AGRICULTURE AND PEASANTS IN NORTHERN INDIA
FROM C. 600 TO 1200 A. D.
(IN HINDI)

By

MEENASHRI YADAV

(BEING A THESIS SUBMITTED FOR THE D. PHIL. DEGREE
OF THE UNIVERSITY OF ALLAHABAD IN ANCIENT
HISTORY, CULTURE & ARCHAEOLOGY)

Supervisor

PROF. S. N. ROY

प्रस्तावना

प्राचीन काल से ही कृषि समाज का मूल आर्थिक आधार रही है। कृषि को वार्त्ता का एक अंग माना जाता था। इस सन्दर्भ में "वृत्ति" से निष्पन्न "वार्त्ता" शब्द व्यवसाय का बोधक था। प्रारम्भ में, जैसा कि अर्थशास्त्र(1.4.1) से ज्ञात होता है, वार्त्ता के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य की गणना की जाती थी। पर बाद में कुसीद को भी इसके अन्तर्गत ले लिया गया (भागवत पुराण, 10.24.21; देवी पुराण, अध्याय 45)। पर विष्णु, वायु एवं ब्रह्माण्ड पुराणों में वार्त्ता का सामान्य पौराणिक अर्थ कृषि मिलता है, यद्यपि कुछ स्थलों पर (जैसे विष्णु पुराण के एक स्थल पर) वार्त्ता के अन्तर्गत कृषि, पशुपालन एवं वाणिज्य माने गये हैं[1]। प्राचीन भारत में कृषि पर कुछ महत्त्वपूर्ण कृतियाँ सुविदित हैं, जिनमें पूर्व मध्यकाल (लगभग 600 से 1200 ई0) की भी कुछ सामग्री का समावेश कर लिया गया है। इन कृतियों में राधारमन गंगोपाध्याय की कृति सम मटीरियल्स फार दि स्टडी ऑफ ऐग्रिकल्चर ऐण्ड ऐग्रिकल्चरिस्ट्स इन ऐंशेंट इंडिया; इंडियन काउंसिल ऑफ ऐग्रिकल्चरल रिसर्च, नई दिल्ली, से प्रकाशित ऐग्रिकल्चर इन ऐंशेंट इंडिया (डा0 राघवन द्वारा सम्पादित); उसी संस्था से प्रकाशित एम0एस0 रन्धावा की ए हिस्ट्री आफ ऐग्रिकल्चर इन इंडिया (जिल्द 1), आदि हैं।

---

1. प्रो0 सिद्धेश्वरी नारायण राय, पौराणिक धर्म एवं समाज, इलाहाबाद, 1968, पृ0 370.

डा० अच्छेलाल ने अपने प्राचीन भारत में कृषि नामक ग्रन्थ में भारतीय इतिहास के काल-विभाजन को दृष्टि में रखकर प्रारम्भ से लेकर 650 ई० तक का ही कृषि का इतिहास प्रस्तुत किया है ।

पूर्व मध्यकाल (लगभग 600 ई० से 1200 ई० तक) में कृषि के कुछ पक्षों पर प्रो० लल्लन जी गोपाल, प्रो० इरफान हबीब, प्रो० रामशरण शर्मा आदि ने महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है, जिससे इस काल में, सामन्ती व्यवस्था के परिप्रेक्ष्य में, कृषि के सभी पक्षों के क्रमबद्ध एवं व्यवस्थित विवेचन की वांछनीयता बढ़ गई है । इसी दृष्टि से शोध के प्रस्तुत विषय — उत्तरी भारत में कृषि एवं कृषक (लगभग 600 ई० से 1200 ई तक) — का चयन किया गया था । इस अध्ययन को उत्तरी भारत तक ही सीमित किया गया है, और इसमें कृषि के साथ कृषकों का भी अध्ययन किया गया है । कृषकों की स्थिति का भी अध्ययन कृषि-व्यवस्था की जानकारी की दृष्टि से आवश्यक समझा गया है । इस शोध में उपलब्ध मूल साहित्यिक एवं अभिलेखीय स्रोतों एवं गौण स्रोतों से प्राप्त सामग्री के विश्लेषण एवं विवेचन के आधार पर तथ्यानुबन्धन एवं तथ्यों की व्याख्या करने एवं कृषि के क्षेत्र में होने वाले तकनीकी एवं अन्य विकास को यथासम्भव निरूपित करने का प्रयास किया गया है ।

साहित्यिक स्रोतों में से निम्नलिखित प्रस्तुत सन्दर्भ में विशेष महत्त्वपूर्ण है :-

इस काल में कृषि पर लिखा गया ग्रन्थ कृषिपराशर ; इस काल का ज्योतिष साहित्य (विशेष रूप से वराहमिहिर की बृहत्संहिता पर भट्टोत्पल

की टीका); वैद्यक के ग्रन्थ (वाग्भट प्रथम की अष्टाङ्ग-संहिता, वाग्भट द्वितीय का अष्टाङ्गहृदय और उस पर अरुणदत्त एवं हेमाद्रि की टीकाएँ, चरकसंहिता पर चक्रपाणिदत्त की टीका, हेमचन्द्र का निघण्टुकोश, आदि); कोश-ग्रन्थ — अमरकोश एवं उसपर क्षीरस्वामी की टीका, विश्वप्रकाशकोश, अभिधानरत्नमाला (हलायुध), अभिधान-चिन्तामणि एवं देशीनाममाला (हेमचन्द्र) आदि; वास्तुशास्त्र पर लिखे ग्रन्थ (मानसार, अपराजितपृच्छा, आदि); जैन धार्मिक साहित्य (निशीथचूर्णि, पुष्पदन्त का महापुराण, आदि); इतिहासपरक ग्रन्थ (कल्हण की राजतरङ्गिणी, हेमचन्द्र का द्वयाश्रय, सन्ध्याकर नन्दी का रामचरित, आदि); धर्मशास्त्र ग्रन्थों पर टीकाएँ (मेधातिथि का मनु-भाष्य, विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा, आदि); लक्ष्मीधर का कृत्यकल्पतरु नामक धर्म-निबन्ध; एवं कथा साहित्य (उपमितिभवप्रपंचा कथा, कथासरित्सागर, आदि)।

इस काल के अभिलेखों में भी हम कृषि-सम्बन्धी कुछ साक्ष्य यत्र-तत्र पाते हैं, पर उनसे कृषि के पूरे चित्र का पुनर्निर्माण नहीं हो सकता। चीनी (ह्वेनसांग, इत्सिंग) एवं अरब (अल्बेरूनी आदि) यात्रियों के विवरणों में भी हमें कुछ महत्त्वपूर्ण साक्ष्य मिलते हैं।

काश्यपीयकृषिसूक्ति नामक कृषि पर लिखा ग्रन्थ बाद के काल (मध्यकाल) का लगता है[1]। पर इस ग्रन्थ में पूर्व मध्यकाल की भी कुछ परम्पराएँ

---

1. लल्लनजी गोपाल, "डेट ऑफ दि काश्यपीयकृषिसूक्ति", दिनेश-चन्दना—डी०सी०सरकार अभिनन्दन वाल्यूम, जर्नल ऑफ ऐंशेंट इंडियन हिस्ट्री, (कलकत्ता यूनीवर्सिटी) जिल्द 15, भाग 1-2, (1984-85), पृ० 163.

संग्रहीत लगती हैं । उदाहरणार्थ, भूमि का समाज के वर्णों -- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र-- के अनुरूप विभाजन जो अपराजितपृच्छा (१२वीं शताब्दी) में भी मिलता है । अतः पूर्व मध्यकाल की कृषि-सम्बन्धी परम्पराओं की सम्यक् जानकारी के लिये इस स्रोत का भी उपयोग इस शोध-प्रबन्ध में किया गया है, पर इसे एकमात्र आधार मान कर कोई निष्कर्ष नहीं निकाला गया है ।

इस शोध-प्रबन्ध के प्रथम अध्याय में, विशेष रूप से कृषि के दृष्टिकोण से, भूमि के परीक्षण एवं वर्गीकरण, उसके मापन, नई भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाने की परम्परा में विकास, एवं भूमि-सम्बन्धी विभिन्न स्तरों के अधिकारों का विवेचन किया गया है । द्वितीय अध्याय में सिंचाई के विभिन्न साधनों का विवरण देते हुये इस क्षेत्र में होने वाली प्रगति का परीक्षण किया गया है । तृतीय अध्याय में कृषि के उपकरणों एवं साधनों तथा कृषि-क्रिया का विवरण दिया गया है: इस सन्दर्भ में अनुभव-जन्य संचित ज्ञान के आधार पर प्रचलित परम्पराओं के व्यवस्थित एवं विकसित होने के साक्ष्यों पर भी विचार किया गया है । चतुर्थ अध्याय में कृषि-उत्पादों एवं उनकी अपेक्षाकृत वृद्धि का विवरण है: इसमें उस काल में कृषि-उत्पादन के सहायक एवं बाधक घटकों की भी समीक्षा की गयी है । पंचम अध्याय में कृषकों, उनके अनुक्रम एवं श्रेणियों तथा उनकी स्थिति का विवेचन किया गया है: कृषि-कर्मकरों के सम्बन्ध में भी विचार किया गया है । अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है ।

सर्वप्रथम मैं गुरुवर प्रोफेसर सिद्धेश्वरी नारायण राय, पूर्व विभागाध्यक्ष, प्राचीन इतिहास संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, के प्रति अपना आभार व्यक्त करती हूँ, जो मेरे शोध-कार्य के पर्यवेक्षक रहे हैं, और जिनकी प्रेरणा, सहायता एवं महती कृपा के बिना यह कार्य सम्भव नहीं हो सकता था ।

प्रो0 शिवेशचन्द्र भट्टाचार्य, अध्यक्ष, प्राचीन इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, के प्रति मैं उनसे प्राप्त प्रेरणा एवं सहायता के लिये आभारी हूँ । विभाग के गुरुजनों श्री विद्याधर मिश्र, श्री रामकृष्ण द्विवेदी, डा0 ओमप्रकाश, श्री धनेश्वर मण्डल, डा0 गीता देवी, श्री बृज बिहारी मिश्र, डॉ रामप्रसाद त्रिपाठी, डॉ0 ज्ञानेन्द्र कुमार राय, डॉ जय नारायण पाण्डेय, डॉ जगन्नाथ पाल, डॉ (श्रीमती) रंजना बाजपेयी, श्री ओम प्रकाश श्रीवास्तव, डॉ हरिनारायण दुबे, डॉ0 उमेश चन्द्र चट्टोपाध्याय डॉ0 (श्रीमती) वनमाला मधोलकर, डॉ0 आदित्य प्रसाद ओझा, डॉ0 (श्रीमती) पुष्पा तिवारी, डॉ0 अनामिका राय, डॉ0 शशिकान्त राय, डॉ0 हर्षकुमार, डॉ0 प्रकाश सिन्हा, डॉ0 चन्द्रदेव पाण्डेय एवं डॉ0 देवीप्रसाद दुबे के प्रति मैं अपने इस शोध-कार्य में प्रोत्साहन एवं विभिन्न अवसरों पर सहायता के लिये आभार व्यक्त करती हूँ

प्रो0 गोविन्द चन्द्र पाण्डे, प्रो0 जसवन्त सिंह नेगी, प्रो0 उदय नारायण राय, एवं डा0 सन्ध्या मुकर्जी की मैं उनकी प्रेरणा एवं आशीर्वाद के लिये अत्यन्त आभारी हूँ। अपने शोध-कार्य में प्रेरणा एवं सहायता के लिये मैं डॉ0 (श्रीमती)

अनुपमा पाण्डे के प्रति भी आभार व्यक्त करती हूँ ।

प्रस्तुत शोध-कार्य हेतु मुझे इंडियन काउंसिल आफ हिस्टॉरिकल रिसर्च, नई दिल्ली, की सीनियर फेलोशिप मिली थी; उस संस्था की भी मैं आभारी हूँ ।

अन्त में मैं अपने पति डा० स्वतन्त्र सिंह के प्रति भी आभार व्यक्त करना अपना कर्तव्य समझती हूँ, जिनकी प्रेरणा का मेरे शोध-कार्य के सम्पन्न होने में बड़ा योगदान है । अपने पिता डॉ० बी०एन०एस० यादव के प्रति उनकी प्रेरणा एवं सहायता के लिये शब्दों में आभार व्यक्त करना मेरे लिये सम्भव नहीं है ।

इलाहाबाद
21-6-1992

मीनाक्षी यादव
(मीनाक्षी यादव)

संकेत-पद-सूची

ई०आई०	-	एपिग्राफिया इंडिका
आई०एच० क्वा०	-	इंडियन हिस्टॉरिकल क्वार्टरली
आई०एच०आर०	-	दि इंडियन हिस्टॉरिकल रिव्यू
एस०सी०एन०आई०	-	सोसाइटी ऐण्ड कल्चर इन नार्दर्न इंडिया इन दि ट्वेल्फ्थ सेंचुरी-बी०एन०एस० यादव कृत
जे०बी०ओ०आर०एस०	-	जर्नल ऑफ दि बिहार ऐण्ड उड़ीसा रिसर्च सोसाइटी
मनु०	-	मनुस्मृति
सी०आई०आई०	-	कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्

विषय-सूची

अध्याय 1

भूमि एवं भूमि-सम्बन्धी अधिकार

अध्याय 1

भूमि एवं भूमि-सम्बन्धी अधिकार

भूमि का परीक्षण, विभेदीकरण एवं वर्गीकरण

कृषि के दृष्टिकोण से भूमि का प्राथमिक महत्त्व रहा है, क्योंकि उपयुक्त भूमि के चयन पर ही कृषि-कार्य की सफलता निर्भर करती है। भूमि के कृष्योपयोगी गुणों एवं उसकी उपयुक्तता के उत्तरोत्तर संचित होने वाले ज्ञान के आधार पर उसके परीक्षण, विभेदीकरण एवं वर्गीकरण की परम्परा का पूर्व मध्यकाल में काफी विकास हुआ।

भूमि-निरूपण एवं भूमि-परीक्षण की परम्परा

अर्थशास्त्र[1] में भूमि-निरूपण के सन्दर्भ में जाङ्गल, अनूप (जलीय, जलप्राया या दलदली भूमि) एवं देशवाप (दोनों के लक्षणों से युक्त सामान्य (शुष्क) भूमि) का उल्लेख किया गया है। चरक संहिता[2] एवं सुश्रुत-संहिता[3] में हम भूमि का यही वर्गीकरण अपेक्षाकृत विस्तृत एवं विशद रूप में पाते हैं। इन वैद्यक के ग्रन्थों में भूमि को स्पष्ट रूप से तीन वर्गों में विभक्त किया गया है-- जाङ्गल, अनूप एवं साधारण[4]। इन वर्गों का निरूपण मुख्य रूप से जल की उपलब्धि एवं वनस्पतियों के आधार पर किया गया है, तथा इन क्षेत्रों की भूमि-संरचना पर भी कुछ प्रकाश डाला गया है।

1- अर्थशास्त्र, सम्पादक आर०पी० कांगले (द्वितीयावृत्ति), बम्बई, 1969,2·24·5·

2- चरक संहिता, कल्पस्थान 1, मदनफलकल्प,6,7,9·

3- सुश्रुत संहिता, अध्याय 35,34-42·

भूमि के वर्गीकरण की यही परम्परा पूर्व मध्यकाल में भी प्रचलित रही । 13वीं शताब्दी में शार्ङ्गधर ने अपने ग्रन्थ शार्ङ्गधरपद्धति के "उपवनविनोद" अध्याय में इसी वर्गीकरण को ग्रहण किया है[1]। यह भी कहा गया है कि सभी प्रकार के पेड़ों के उगने और बढ़ने के लिये जाङ्गल भूमि और अनूप भूमि नहीं, अपितु साधारण भूमि शुभ होती है[2]। पूर्व मध्यकाल में रंग एवं रस के आधार पर भी भूमि के भेदों को निरूपित करने का विशेष प्रयास किया गया । इस प्रकार काली (असित), निस्तेज एवं दबी आभा वाली (विपाण्डु), हरी (श्याम), लाल (लोहित), सफेद (सित), एवं पीली (पीत) भूमियों को क्रमशः मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु एवं कषाय स्वादों से सम्बन्धित किया गया है[3]। उपवनविनोद (श्लोक 36) में फिर यह कहा गया है कि जिस भूमि की मिट्टी जहरीली, कंकरीली-पथरीली, वल्मीक-बिल-युक्त, ऊषरा (ऊसर वाली), शर्करायुक्त (शर्करिला), या पानी से दूर हो वह पेड़ों के उगाने के लिये हितकर नहीं होती। इन्द्रनील (नीले रंग का रत्न) की आभावाली; शुक पक्षी के पंख की भाँति मुलायम; शंख, कुन्द, कुमुद या चन्द्रमा के समान रंगवाली; या तप्त स्वर्ण अथवा विकसित चम्पक कुसुम के रंगवाली मिट्टी सभी प्रकार के पेड़-पौधों की उत्पत्ति एवं वृद्धि के लिये उपयुक्त बताई गई है (श्लोक 37) । जो भूमि समतल हो,

---

1- उपवनविनोद, सम्पादक एवं अनुवादक गिरिजा प्रसन्न मजूमदार, इण्डियन रिसर्च इन्स्टीट्यूट, कलकत्ता, 1935, श्लोक 34.

2- न जाङ्गला न चानूपा भूमिः साधारणा शुभा । वही, श्लोक 39 .

3- वही, श्लोक 35

पानी के निकट हो और जिसमें उगने वाले पेड़ों के अंकुर हरे होते हों उसमें सभी प्रकार के पेड़ों की वृद्धि होती है (श्लोक 38) ।

ह्वेनसांग द्वारा भूमि का विभेदीकरण

चीनी यात्री ह्वेनसांग[1] ने भारत को पाँच मुख्य भौगोलिक क्षेत्रों में विभाजित करते हुये प्रत्येक क्षेत्र की मिट्टी की सामान्य विशेषता का उल्लेख किया है । उसके अनुसार भारत का उत्तरी क्षेत्र पहाड़ी है, जहाँ की मिट्टी काली है, पूर्वी क्षेत्र उपजाऊ मिट्टी वाला मैदानी क्षेत्र है, दक्षिणी क्षेत्र में वनस्पति-उत्पादन का प्राचुर्य है, तथा पश्चिमी क्षेत्र की मिट्टी कँकरीली-पथरीली है[2]। ह्वेनसांग ने कुछ प्रदेशों की मिट्टी और वहाँ के मुख्य उत्पादनों का अलग से भी उल्लेख किया है[3]।

उर्वरता एवं कृष्टाकृष्ट के आधार पर मिट्टी एवं भूमि का विभेद

अमरकोश[4], विश्वप्रकाशकोश[5], हलायुधकोश[6] आदि ग्रन्थों में उर्वरता के दृष्टिकोण से श्रेष्ठ प्रकार की मृत्तिका (मिट्टी) के लिये "मृत्सा" एवं मृत्स्ना"

1- वाटर्स: आन युवान च्वांगस् ट्रैवेल्स इन इण्डिया, पृ० 140.

2- वही, पृ० 140-41

3- वही, पृ० 329-40.

4- वही, 2.1.4.

5- वही, पृ० 87, श्लोक 23; पृ० 174, श्लोक 11.

6- वही, 2.159.

शब्द दिये गये हैं । उपजाऊ भूमि के लिये "उर्वरा" एवं "सर्वसस्याढ्या" शब्द मिलते हैं[1]। "ऊष" शब्द क्षारमृत्तिका के लिये दिया गया है, जो उपजाऊ नहीं होती (अमरकोश, 2·1·4) । ऊषवान्, "ऊषर" (अमरकोश 2·1·5), एवं "इरिण" (हलायुधकोश,2·158) भी खारी मिट्टी वाली अनुपजाऊ भूमि के लिये मिलते हैं । "मरु" एवं "धन्वान्" शब्द मरुस्थल की निर्जल शुष्क भूमि के लिये मिलते हैं (अमरकोश, 2·1·5; हलायुधकोश,2·158) ।

"सीत्य", "कृष्ट" एवं "हल्य" शब्द हल द्वारा कृष्ट भूमि के लिये मिलते हैं (अमरकोश, 2·9·8) । हल द्वारा अकृष्ट भूमि के लिये "खिल" एवं "अप्रहत" शब्द दिये गये हैं (अमरकोश, 2·1·5; हलायुधकोश, 2·158) ।

विभिन्न फसलों की कृषि हेतु उपयुक्त खेतों के वर्ग

कोशग्रन्थों एवं व्याकरण के ~~ग्रन्थों एवं व्याकरण के~~ ग्रन्थों में विभिन्न प्रकार ओ/विभिन्न फसलों की कृषि हेतु उपयुक्त समझे जाते थे, का उल्लेख मिलता है । अमरकोश (2·9·6–8) में ये नाम निम्नवत् मिलते हैं[2]:

फसल		उसके लिये उपयुक्त क्षेत्र का नाम
व्रीहि एवं शालि	–	व्रैहेयशालेयम्
यव	–	यव्यम्, यवक्यम्
षष्टिक	–	षष्टिक्य

1– अमरकोश, 2·1·4; हलायुधकोश, 2·158·

2– कोद्रवीण के अतिरिक्त ये सभी नाम पतंजलि के महाभाष्य में भी मिलते हैं वासुदेव शरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ 199·

तिल - तिल्यम्, तैलीनम्

माष - माष्यम्, माषीणम्

उमा - उम्यम्, औमीनम्

अणु - अणव्यम्, आणवीणम्

भङ्ग - भङ्ग्यम्, भाङ्गीनम्

मुद्ग - मौद्गीनम्

कोद्रव - कौद्रवीणम्

अमरकोश (2.9.7) में माष, उमा, अणु एवं भङ्ग के सम्बन्ध में उनके लिये उपयुक्त क्षेत्रों के नाम नहीं बताये हैं, पर उनके लिये शब्द बनाने का नियम निर्दिष्ट कर दिया गया है। क्षीरस्वामी ने अपनी अमरकोश पर टीका (2.9.7 पर) में इन सभी नामों को दिया है।

नवीं शताब्दी के व्याकरण ग्रन्थ शाकटायन व्याकरण[1] में विभिन्न फसलों के क्षेत्रों के सन्दर्भ में कौद्रवीणम् शब्द नहीं दिया गया है। पर वह हलायुधकोश (2.162) में मिलता है। शाकटायन व्याकरण (3.3.24-29) में अन्य सभी उपर्युक्त क्षेत्रों के नाम मिलते हैं। उसमें निम्नलिखित अतिरिक्त नाम भी मिलते हैं :-

---

1- शाकटायन-व्याकरण, सम्पादक शम्भुनाथ त्रिपाठी भारतीय ज्ञानपीठ, दिल्ली,

फसल		उसके लिये उपयुक्त क्षेत्र का नाम
कुलत्थ	-	कौलत्थीनम्
प्रियङ्गु	-	प्रैयङ्गवीणम्
नीवार	-	नैवारीणम्
व्रीहि	-	व्रैहीयम्
इक्षु	-	इक्षुशाकटम्, इक्षुशाकिनम्
मूल	-	मूलशाकटम्, मूलशाकिनम्

अमरकोश के टीकाकार क्षीरस्वामी ने मसूर के खेत के लिये "मासूरीण" और शाक के क्षेत्र के लिये "शाकशाकट" एवं "शाकशाकिन" शब्दों को दिया है[1]। ये शब्द अमरकोश में नहीं दिये गये हैं।

इससे यह स्पष्ट होता है कि कुल मिलाकर अमरकोश के काल से लेकर 11वीं-12वीं शताब्दी तक अनाजों एवं शाकों की कृषि हेतु खेतों की उपयुक्तता पर उत्तरोत्तर विशेष ध्यान दिया जाने लगा।

विभिन्न फसलों के लिये उपयुक्त भूमि का परीक्षण

मत्स्य पुराण में विभिन्न फसलों के लिये उपयुक्त भूमि के परीक्षण की एक सरल, व्यावहारिक विधि मिलती है। इसके अनुसार अनाज के बीजों को

1- अमरकोश 2·9·8 पर टीका।

जिस भूमि का परीक्षण अभिप्रेत हो उसके एक भाग में बो देना चाहिये[1]। ऐसा करने पर यदि वे बीज तीन, पाँच और सात रातों में उग आते हैं तो उस भूमि को उस अनाज विशेष की उत्पत्ति के लिये क्रमश: उत्तम श्रेणी, मध्यम श्रेणी एवं कनिष्ठ श्रेणी का मानना चाहिये[2]। कनिष्ठ श्रेणी की भूमि को अनुपयुक्त और अधिक त्याज्य मानने का निर्देश किया गया है। मत्स्य पुराण में यह बात वास्तु-प्रासाद एवं गृह के निर्माण हेतु भूमि-परीक्षण के सम्बन्ध में कही गई है। पर यह स्पष्ट है कि यहाँ कृषि हेतु भूमि -परीक्षण की परम्परा प्रतिबिम्बित होती है[3]।

काश्यपीय कृषिसूक्ति में भूमि एवं मिट्टी का विभेद

इस ग्रन्थ में भूमि की स्थिति के सम्बन्ध में कहा गया है कि कहीं भूमि समुद्र के जल में डूबी रहती है (श्लोक 27), कहीं समुद्र से छोड़ी हुई रहती है

---

1. फालकृष्टेऽथवा देशे सर्वबीजानि वापयेत् ।।
(मत्स्य पुराण, वेंकटेश्वर स्टीम प्रेस संस्करण, 253.17)

2. त्रिपञ्चसप्तरात्रे च यत्रारोहन्ति तान्यपि ।
ज्येष्ठोत्तमा कनिष्ठाभूर्वर्जनीयतरा सदा ।।
(मत्स्य पुराण, 253.18)

3. द्रष्टव्य, जी0पी0 मजूमदार, वनस्पति, कलकत्ता यूनीवर्सिटी, 1927, पृ0 218-219.

(श्लोक 28), कहीं जल-स्रोतों से युक्त होती है, कहीं नीची या ऊँची रहती है, तथा कहीं पर्वतों, नदियों, घरों, उपजाऊ खण्डों और ह्रदों (झीलों) द्वारा संविभक्त रहती है (श्लोक 28-29)। उसके स्वरूप के सम्बन्ध में कहा गया है कि कहीं वह शर्करायुक्त रहती है (श्लोक 30), कहीं अत्यन्त उष्ण रहती है (श्लोक 30), कहीं जलविहीन रहती है (श्लोक 30), तथा कहीं ऊषर के रूप की रहती है एवं बीजविनाशिनी होती है (श्लोक 31)। कृषि के लिये उपयुक्त मिट्टी वाली भूमि के लिये कहा गया है कि वह हड्डियों और पत्थर के टुकड़ों से रहित होती है (श्लोक 33); मृदुल होती है (श्लोक 33); सुस्निग्ध, कम लाल (अल्परक्ताम्) या काले रंग (कृष्णवर्णाम्) की होती है (श्लोक 33); कुश (कुश) एवं काव (कास) से रहित, सारयुक्त एवं रस-समुज्वल होती है (श्लोक 34); गड्ढे या दरार (श्वभ्र) से रहित एवं समतल होती है (श्लोक 34); मल्लिका-पुष्प, जाति-पुष्प, कुटज या सुरा के समान गन्ध वाली होती है, अथवा उसमें पद्म(कमल), खर्जूर, या तिनिश की मंजरी की महक होती है (श्लोक 35); वह सदैव जल से सिक्त (गीली) नहीं रहती है (अपीतसलिलाम्), पर (शुष्क न होने के कारण) जल से सिक्त हो सकती है (श्लोक 36); उसमें बीज शीघ्रता से उगते हैं (श्लोक 36); उसका जोतना सुकर होता है (श्लोक 36), वह वृषफेन एवं हितकर जन्तुओं (जानवरों एवं कीड़ों) से समन्वित होती है; उसमें काँटे, करीष आदि नहीं होते हैं (श्लोक 37); तथा वह अधिक घनत्ववाली (घनाम्) एवं तोल में अधिक भारवाली होती है (श्लोक 37,38)।

गुणवत्ता के आधार पर इस ग्रन्थ (श्लोक 38-39) में कृषि-योग्य भूमि को 5 वर्गों में विभाजित किया गया है। ये पाँचों वर्ग अवरोही क्रम में निम्नवत् हैं :-

(1). ब्राह्मण भूमि

(2). क्षत्रिय भूमि

(3) वैश्य भूमि

(4) शूद्र भूमि

(5) संकीर्णगुण भूमि ।

यहाँ ब्राह्मण-भूमि को सर्वश्रेष्ठ एवं संकीर्ण या मिश्रित भूमि को सबसे कम गुणवाली माना गया है। यहाँ यह विचारणीय है कि वास्तुशास्त्र के ग्रन्थ अपराजितपृच्छा (12वीं शताब्दी) में भी भूपरीक्षा के सन्दर्भ में भूमि को ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र वर्गों में विभाजित करने की संकल्पना मिलती है[1]। यह विभाजन सामाजिक वर्ण-व्यवस्था के अनुरूप किया गया था, और यह परम्परा पूर्व मध्यकाल से ही प्रारम्भ होती है।

कुल मिलाकर कृषि के लिये उत्तम भूमि को "अन्त:सार" (आन्तरिक सार) से युक्त एवं "बाह्यसारता" (बाह्यसारवाली) बताया गया है (श्लोक 40)।

---

1. अपराजितपृच्छा, 51.3-4.

इन दोनों का अर्थ क्रमश: भूमि के नीचे के भाग और उसकी सतह का साफ पानी एवं उपजाऊ मिट्टी से संयुक्त होना हो सकता है। पर अन्त:सार का अर्थ भूमि की मिट्टी की अपनी आन्तरिक गुणवत्ता, और "बाह्यसारता" का अर्थ उससे सम्बन्धित वातावरण, पेड़, पौधों, जीव-जन्तुओं, जलाशय आदि से उद्भूत गुण भी हो सकता है। इस प्रकार सम्भवत: बाह्यसारता के ही अन्तर्गत यह बताया गया है कि वह भूमि देखने में अच्छी हो; दीमक के वल्मीक एवं दुष्ट जन्तुओं से रहित हो; शुभ पक्षियों का आश्रय-स्थान हो; तथा तूफान, वक्रवात एवं दावाग्नि के संकट से मुक्त हो (श्लोक 40-41)।

श्रेष्ठ गुणों वाली भूमि के सम्बन्ध में यह भी बताया गया है कि उसमें भूमि के नीचे पर्याप्त जल रहता है, तथा वह उद्यान, छायादार वृक्षों एवं विभिन्न बीजों के लिये वृद्धिकारी, कुछ निम्न धरातल की, मृदुस्पर्शा, तथा गायों आदि के चरने, कुएँ खोदने एवं जल-ग्रहण के लिये उपयुक्त होती है (श्लोक 42-44)। इस प्रकार की श्रेष्ठ भूमि में अल्प दोष (जो ऊपर उल्लिखित हैं) भी हो सकते हैं (श्लोक 44)।

काश्यपीय कृषिसूक्ति (श्लोक 328-339) में कृषि-योग्य भूमि के सामान्य रूप से दो वर्ग बताये गये हैं :-

---

1. ऐग्रिकल्चर इन ऐंशेंट इंडिया, मुख्य संपादक डी० राघवन, इंडियन कांउसिल आफ ऐग्रिकल्चरल रिसर्च, नई दिल्ली, 1964, पृ० 5.

(1) नम भूमि जो धान के खेत के लिये उपयुक्त होती है; इसे शालिभूमि कहा गया है, जो "शालिलप्रचुरा" बताई गई है। इसे विभिन्न स्थानों में निम्नभागा, निम्नतला, निम्नभूमिका अथवा समतला कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि यह भूमि कुछ नीची होती थी।

(2) सूखी भूमि जिसे आढक भूमि, कहा गया है। इसे "उन्नता" भूमि बताया गया है, क्योंकि यह कुछ ऊँची होती थी। यह चणक, आढक आदि की वृद्धि के लिये अनुकूल मानी गयी है। इन अनाजों की फसलों की सिंचाई के लिये प्राय: कम पानी की आवश्यकता होती थी (स्वल्पसलिलसेकात्)।

इस प्रकार यह कथन किया गया है कि कृषि हेतु खेत नदी-तट में, ग्राम में, वन के अन्दर एवं पर्वत के तट पर, अपने निम्न एवं उच्च धरातल के अनुसार, दो भागों में विभक्त देखे जाते हैं (श्लोक 327-328)।

<u>काश्यपीयकृषिसूक्ति</u> (श्लोक 46-59) में राजा की आज्ञा से भूपरीक्षण-विधि में निपुण, कृषिशास्त्र-विशारद एवं दकार्गल-प्रमाणज्ञ (भूमि के अन्दर के पानी का पता लगाने वाले) ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों अथवा शूद्रों द्वारा शुभ मुहूर्त में भूमि के परीक्षण का कुछ विस्तृत वर्णन मिलता है। इस सन्दर्भ में निर्दिष्ट भूमि पर वेदज्ञ ब्राह्मणों द्वारा धार्मिक कृत्य करने का भी विधान किया गया है। मिट्टी की जाँच सूँघने, चखने, तौलने, एवं पानी के बरतन में रखकर रंगों आदि के द्वारा परीक्षण करने के माध्यम से करने का उपदेश दिया गया है[1]। जाँच के बाद उत्तम, मध्यम, एवं अधम प्रकार की भूमि

---

1. <u>अपराजितपृच्छा</u> (51.1-4) में भी रंग, गंध एवं स्वाद की जाँच द्वारा

को निर्दिष्ट करने के लिये कहा गया है । अधम प्रकार की भूमि को त्याज्य माना गया है । इस सन्दर्भ में भी रंग की एकरूपता वाली (समवर्णा समछाया), ठोस (घना) एवं मृदुल (स्निग्धा) मिट्टी की प्रशंसा की गई है (श्लोक-52) । इसी क्रम में कृषियोग्य भूमि, उद्यानयोग्य भूमि, वनयोग्य भूमि, एवं जलाधार (जलाशय)- योग्य भूमि को ग्रामों, देशों, दुर्गों, नगरों एवं राजमहलों की सीमाओं के अन्दर (यथावश्यक रूप में) निर्दिष्ट करने के लिये कहा गया है ।

भूमि-परीक्षण एवं मिट्टी की जाँच का जितना विस्तृत वर्णन काश्यपीय-कृषि-सूक्ति में है उतना पहले के किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता ।

सिंचाई के साधनों के आधार पर भूमि एवं खेतों का सामान्य वर्गीकरण

अमरकोश (2·1·12) तथा अन्य कोशग्रन्थों[1] में नदीमातृक (नदी द्वारा सिंचित कृषि वाले) तथा देवमातृक (वर्षा द्वारा सिंचित कृषि वाले) देशों का विभेद मिलता है । जैन ग्रन्थों में प्रायः केतु (वर्षा के जल से सिंचित होने वाले) एवं सेतु (कुएँ, बाँध आदि कृत्रिम सिंचाई के साधनों द्वारा सिंचित होने वाले) खेतों का विभेद मिलता है[2] ।

1· उदाहरणार्थ हलायुधकोश, सम्पादक जयशंकर जोशी, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1967, 2- भूमिकाण्ड, श्लोक 161·

2· उदाहरणार्थ बृहत्कल्पभाष्य, 1·1·15(पृष्ठ), उद्धृत द्वारा मधु सेन, ए कल्चरल स्टडी आफ दि निशीथचूर्णि, पी0वी0रिसर्च इन्स्टीट्यूट, वाराणसी, 1975, पृ0 195, पादटिप्पणी 6·

पूर्व मध्यकाल के अन्त तक आते-आते सिंचाई के साधनों के आधार पर खेतों को तीन वर्गों[1] में बाँटा जाने लगा:--

(1) सेतुक्षेत्र वे बताये गये हैं जो अरघट्ट आदि के जल से सींचे जाते थे ।

(2) केतु क्षेत्र उन्हें कहा गया है जो केवल वर्षा के जल से सिंचित होते थे । इस प्रकार की कृषि-भूमि को अन्य ग्रन्थों (महाभारत आदि) में देवमातृका कहा गया है ।

(3)- उभय क्षेत्र वे बताये गये हैं जिनकी सिंचाई वर्षा के जल एवं सिंचाई के कृत्रिम साधनों, दोनों से होती थी ।

जैन लेखक आशाधर का यह वर्गीकरण वास्तविकता के अधिक निकट है, क्योंकि उत्तरी भारत के बहुत बड़े क्षेत्र में आज भी कृषि-क्षेत्र आंशिक रूप से वर्षा के जल और कुछ हद तक सिंचाई के कृत्रिम साधनों द्वारा सींचे जाते हैं ।

जहाँ सिंचाई के कृत्रिम साधन उपलब्ध थे वहाँ के खेत कृषि-उत्पादन की दृष्टि से सर्वोत्तम माने जाते थे । महाभारत (सभापर्व, 5·77) में भी केवल वर्षा के जल पर निर्भर (देवामातृका) कृषि को समृद्धि उत्पन्न करने वाली नहीं माना गया है । पूर्व मध्यकाल में मनुस्मृति पर अपने भाष्य में मेधातिथि (लगभग 900 ई0) ने कहा है कि "बहुसस्या" (अधिक कृषि-उत्पादन वाली)

1· द्रष्टव्य आशाधर का धर्मामृत (सागार)-रचनाकाल वि0सं0 1285 के पूर्व, सम्पादक एवं अनुवादक कैलाश चन्द्र शास्त्री , ज्ञानदेवी-मूर्तिदेवी, जैन -

भूमि वह है जो "अदेवमातृका" हो, अर्थात् जहाँ कृषि केवल वर्षा के जल के अधीन न हो और सिंचाई के कृत्रिम साधनों का उपयोग करके की जाती हो[1]। सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू[2] में यौधय देश के ग्रामों की समृद्धि का आधार उनका "अदेवमातृका" होना बताया है। कुल्लूक भट्ट ने मनु के एक श्लोक पर टीका करते हुये "अदेवमातृका" शब्द की जगह "नदीमातृका"[3] का प्रयोग किया है। यहाँ "नदी" शब्द केवल सरिता के लिये नहीं प्रयुक्त हुआ है। यह व्यापक अर्थ में जल-प्रवाह के लिये लगता है, जिसके अन्तर्गत सिंचाई के सभी कृत्रिम साधन आ जाते हैं।

तड़ाग आदि सिंचाई के कृत्रिम साधनों से उत्पादन में वृद्धि इस रूप में भी होती थी कि रबी और खरीफ फसलों के अलावा एक अतिरिक्त (जायद) फसल भी लोग उत्पन्न करते थे। बुद्धघोस की विनयपिटक पर समन्तपासादिका[4] अट्ठकथा में "त्रिसस्ससम्पादनकं महातडाकं" का उल्लेख मिलता है। इससे स्पष्ट है कि बड़े तड़ागों से सिंचाई करके साल में तीन फसलें उत्पन्न की जा सकती थीं।

---

1. मनु० 7.212 पर मेधातिथि.
2. यशस्तिलक चम्पू, पूर्वखण्ड, संपादक एवं अनुवादक सुन्दरलाल शास्त्री, वाराणसी, 1960, पृष्ठ 8-9.
3. नदीमातृकतया सर्वदा सर्वसस्यप्रदाम्; मनु० 7.212 पर कुल्लूक भट्ट।
4. समन्तपासादिका, जिल्द 2, सम्पादक बीरबल शर्मा, नवनालन्दा महाविहार, पटना, 1965, पृष्ट 685, पंक्ति 24.

बड़े भूमिपति, जो महातड़ागों के स्वामी होते थे, कभी-कभी बौद्ध विहारों को भी उनका दान करते थे ।[1] महाभारत में वर्षा की अधीनता समाप्त करने तथा कृषि की समृद्धि के लिये राजा द्वारा राष्ट्र में तड़ागों के निर्माण का विधान किया गया है[2] ।

भूमि की माप

कुछ अभिलेखों से ज्ञात होता है कि भूमि की माप का एक समान मापदण्ड (standard) सम्पूर्ण उत्तरी भारत में नहीं प्रचलित था । विभिन्न क्षेत्रों में और कभी-कभी एक ही क्षेत्र में विभिन्न मानदण्ड प्रचलित थे ।

जोत के आधार पर भूमि की नाप

बहुत प्राचीन काल से ही हल खेत जोतने का एक सुविदित उपकरण था । पर पूर्व मध्यकाल तक आते-आते "हल" शब्द के अर्थ में विस्तार हुआ, और यह शब्द एक हल से जोती जा सकने वाली भूमि-क्षेत्र का भी बोधक हो गया । हल

---

1. वही, पृष्ठ 685.
2. क्वचिद् राष्ट्रे तडागानि पूर्णानि च बृहन्ति च ।
   भागशो विनिविष्टानि न कृषिर्देवमातृका ।। सभापर्व, 5.77.

के माप का उल्लेख हम बंगाल के श्रीचन्द[1], गाहडवालों[2], गुजरात के चौलुक्यों[3], चन्देलों[4] आदि के कुछ अभिलेखों में पाते हैं ।

सिलहट (आजकल बंगलादेश में) से प्राप्त दो अभिलेखों में भी हल शब्द का उल्लेख भूमि की एक विशेष नाप के लिये आता है, जो, पद्मनाथ भट्टाचार्य[5] के अनुसार, बीसवीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में भी उस क्षेत्र में प्रचलित थी । इन्होंने उस क्षेत्र में प्रचलित बाद की परम्परा के अनुसार हल के परिमाण के सम्बन्ध में निम्नलिखित तालिका प्रस्तुत किया है :-

7 हस्त (Cubits)	= 1 नल (नाप के लिये प्रयुक्त किया जाने वाला दण्ड)
1 नल x 1 नल	= 1 रेख
4 रेख	= 1 यष्टि
28 यष्टि	= 1 केदार (केयार)
12 केदार	= 1 हल

---

1. इन्सक्रिप्शन्स आफ बंगाल, पृ0 165.
2. इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जिल्द 19, पृ0 249; जिल्द 18, पृ0 14 और आगे ।
3. ई0आई0, जिल्द 21, पृ0 171 और आगे; इंडियन ऐन्टीक्वेरी, जिल्द 10, पृ0 158 और आगे, इत्यादि ।
4. ई0 आई0, जिल्द 4, पृ0 153 और आगे; जिल्द 20, पृ0 128 और आगे, इत्यादि ।
5. इण्डियन ऐन्टिक्वेरी, जिल्द 52(1923), पृ0 18.

इस प्रकार इनके अनुसार एक हल 7×7×4×28×12=65856 वर्ग हस्त (cubits) =3·4 एकड़ के बराबर होता था। पर यहाँ यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि जो हल की नाप सिलहट में 20वीं शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश में प्रचलित थी वही पूर्व मध्यकाल में भी प्रचलित रही होगी। डी०सी० सरकार[1] ने ठीक कहा है कि हल की नाप आजकल भी विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग पायी जाती है। उनके अनुसार राजस्थान (<u>एपिग्राफिया इण्डिका</u>, जिल्द 25, पृ० 64, नोट 2) में इसका परिमाप 50 बीघा माना जाता है; पर अन्य क्षेत्रों में इसकी अलग-अलग नाप मिलती है। उनका अनुमान है कि प्रारम्भ में हल शब्द भूमि के उस क्षेत्र की मोटी नाप रही होगी जो एक जोड़ी बैलों से साल भर जोता जा सकता होगा। पर उन्होंने ही यह भी कहा है कि एक अभिलेख में भूमि के क्षेत्र का उल्लेख मिलता है जो एक हल द्वारा एक दिन में जोता जा सकता था[2]।

कुछ अन्य अभिलेखों से भी ज्ञात होता है कि भूमि की हल नाप एक दिन में एक हल से जोती जा सकने वाली भूमि के क्षेत्र को द्योतित करती है। धारावर्ष देव के हथल अभिलेख (वि०सं० 1237)[3] में एक भूखण्ड का उल्लेख मिलता है जो दो हलों द्वारा एक दिन में जोता जा सकता था। इसी प्रकार चन्देल

1· <u>इंडियन एपिग्राफी</u>, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-वाराणसी-पटना, 1965, पृष्ठ 411·

2· वही, पृ० 411·

3· <u>इण्डियन ऐन्टिक्वेरी</u>, जिल्द 43, पृ० 193 और आगे।

परमर्दिदेव के चरखरी अभिलेख[1] में एक दिन में 5 हलों द्वारा जोती जा सकने वाली भूमि के दान का उल्लेख मिलता है। स्पष्ट है कि भूमि की हल-नाप इस प्रकार प्रारंभ में एक मोटी नाप रही होगी। बाद में उसका समीकरण भूमि की सतह वाली नाप के साथ कर दिया गया होगा। यह भी स्पष्ट है है कि भूमि की हल-नाप विभिन्न क्षेत्रों में भूमि के प्रकार पर भी निर्भर हो सकती थी, क्योंकि कड़ी भूमि के जोतने में अधिक समय लगता है और मुलायम भूमि के जोतने में कम। चौहान नरेश विग्रहराज के हर्ष प्रस्तर अभिलेख[2] (वि०सं० 930) में भूमि के बड़े हल (बृहद् हल) के परिमाण का उल्लेख मिलता है। इससे भी यह स्पष्ट होता है कि मोटे तौर पर हल का परिमाण 2 प्रकार का होता था -- एक बड़ा और एक छोटा[3]।

इस प्रकार भूमि की हल नामक नाप का प्रचार पूर्व मध्यकाल में, जैसा कि दसवीं, ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियों के अभिलेखों से ज्ञात होता है, पश्चिम में गुजरात से लेकर पूर्व में सिलहट तक था। पर इस नाप के साथ अन्य नापें भी विभिन्न क्षेत्रों में, तथा एक क्षेत्र में ही, प्रचलित थीं। अब प्रश्न यह है कि भूमि की हल नामक नाप की प्राचीनता क्या है। पुष्पा नियोगी[4]

---

1. आर्क्योलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, 1929-30, पृ० 166-67.

2. इ०आई०, जिल्द 2, पृ० 116 और आगे।

3. द्रष्टव्य, पुष्पा नियोगी, कांट्रीब्यूशन्स टु दि ईकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, कलकत्ता 1962, पृ० 85.

4. कान्ट्रीब्यूशन्स टु दि ईकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० 84.

के मत से "हल" शब्द पाणिनि की अष्टाध्यायी (4.4.97) और पतंजलि के महाभाष्य (1.1.72) में "भूमि की एक नाप के अर्थ में" प्रयुक्त हुआ है। पर डा० वासुदेव शरण अग्रवाल ने अपने पाणिनिकालीन भारतवर्ष में "हल" शब्द को भूमि की नाप के अर्थ में नहीं ग्रहण किया है। "हल" शब्द अमरकोश (2.9.13) में भी खेत जोतने[1] के सुविदित उपकरण के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। पुष्पा नियोगी[2] ने अष्टाध्यायी (4.4.97) में आये "हल्य", "द्विहल्य" एवं, "त्रिहल्य" शब्दों को भी क्रमश: एक हल, दो हलों एवं तीन हलों से जोती हुई भूमि के अर्थ में प्रयुक्त बताया है। पर यह मत ठीक नहीं लगता। जैसा कि अमरकोश (2.9.9) से ज्ञात होता है, इन शब्दों का अर्थ क्रमश: जोता हुआ खेत, दो बार जोता हुआ खेत और तीन बार जोता हुआ खेत था।

अर्थशास्त्र तथा प्राचीन काल के अभिलेखों में भी हमें भूमि की हल नामक नाप का उल्लेख नहीं मिलता। इसका एक सबसे प्राचीन उल्लेख बाण (7वीं शताब्दी) के हर्षचरित[3] में मिलता है। पर वहाँ हल शब्द नहीं, अपितु सीर शब्द आता है, जिसका अर्थ श्रीशंकर ने हर्षचरित की अपनी "संकेत" टीका में

---

1. सीत्यं कृष्टं च हल्यवत्। अमरकोश, 2.9.8,

2. कान्ट्रीब्यूशन्स टु दि ईकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० 84, पादटिप्पणी 25.

3. तत्सीरलहस्रसंमितसीम्नां ग्रामाणां शतमदाद् द्विजेभ्य:। हर्षचरित (श्री शंकरकविविरचित "संकेत" व्याख्या सहित), सं० जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1964, पृ० 362, पंक्ति-3-4. यहाँ हर्ष के ग्राम-दान का उल्लेख किया गया है, और सीर शब्द इस सन्दर्भ में भूमि के एक नाप का बोधक है।

हल बताया है (सीरं हलम्)[1] इससे यह स्पष्ट है कि सीर शब्द हल के लिये ही प्रयुक्त हुआ है। उत्तर प्रदेश के इटावा जिले के राहन नामक ग्राम से प्राप्त एक गाहड़वाल अभिलेख (वि0सं0 1166/1109 ई0)[2] में सीरा शब्द मिलता है:--

ग्रामे हलानां चतुर्भि: प्रमायोय: (प्रमेया ?) ।।

सीरा ।

यहाँ यह कहा जा सकता है सीरा भी भूमि की नाप थी जो चार हल के बराबर थी। पर उत्तर प्रदेश के गाँवों में अब भी सीर शब्द जोत, अर्थात् खेती की भूमि, के लिये प्रयुक्त होता है। अत: इस अभिलेख में सीरा। का तात्पर्य जोत में रहने वाला एक भूमिखण्ड भी हो सकता है, जिसकी नाप चार हल बताई गई है।

राजस्थान से प्राप्त चाहमान केल्हणदेव के सांडेराव अभिलेख[3] (वि0सं0 1221) में "हयेल" शब्द मिलता है, जिसका अर्थ एक हल से एक दिन में जोती जाने वाली भूमि बताया जाता है। गुजरात के भीमदेव द्वितीय के एक अभिलेख में हयेल को 4 विंशोपक के बराबर बताया गया है[4]। लेखपद्धति में प्रयुक्त "विंशोपक"

---

1. वही, पृ0 362.
2. इंडियन ऐन्टिक्वेरी, जिल्द 18, पृ0 16.
3. ई0आई0, जिल्द 9, पृ0 471.
4. दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डाइनेस्टीज, पृ0 307.

को सी0डी0 दलाल ने एक बीघे के बराबर होने का अनुमान लगाया है[1]। श्रीधर के गणितसार में "हलवाअ" को 483840 यव के बराबर बताया गया है, जो $\frac{1}{3}$ कोश से बहुत अधिक न रहा होगा[2]। इस प्रकार "हयेल" और "हलवाअ" हल के ही समकक्ष लगते हैं[3]। भीमदेव द्वितीय[4] के एक अभिलेख में तथा परमार नरेश धारावर्षदेव[5] के भी एक अभिलेख में "हलवाह" शब्द एक हल से जोती जा सकने वाली भूमि के विस्तार के लिये प्रयुक्त किया गया है। यह "हलवाव" का ही संस्कृतनिष्ठ रूप लगता है।

बोने हेतु आवश्यक बीज के परिमाण के आधार पर भूमि की नाप

इस प्रकार के भूमि के नाप के अभिलेखीय साक्ष्य सबसे पहले गुप्त-काल में बंगाल में मिलते हैं[6]। यहाँ कुल्यवाप, द्रोणवाप और अढवाप भूमि की नाप के उस काल में प्रचलित नाम और इकाइयाँ थीं। इन शब्दों का प्रयोग उस भूमि क्षेत्र के लिये होता था, जिसमें क्रमशः एक कुल्य, एक द्रोण और एक आढक के

---

1. लेखपद्धति, पृ0 106.
2. जे0एन0एस0 आई0, जिल्द 8, भाग 2, पृ0 138 और आगे।
3. पुष्पा नियोगी (पूर्वोद्धृत, पृ0 84) "हयेल" को अनाज की एक नाप मानती हैं। पर भूमिदान के सन्दर्भ में भूमि की नाप न देकर अनाज की नाप देना युक्तिसंगत नहीं लगता।
4. इंडियन ऐन्टिक्वेरी, जिल्द 18, पृ0 108 और आगे
5. वही, जिल्द 56, पृ0 50 और आगे।
6. डी0सी0सरकार, इंडियन एपिग्राफी, पृ0 414.

परिमाण के बीज की आवश्यकता बोने के लिये होती थी । <u>अमरकोश</u>(2·9·10) में उस खेत को जिसमें एक द्रोण बीज बोने की आवश्यकता होती थी द्रौणिक कहा गया है । इसी प्रकार एक आढक बीज की आवश्यकता वाले क्षेत्र को आढकिक कहा गया है । <u>अमरकोश</u> में खारीवाप एवं खारीक शब्द उस खेत के लिये बताये गये हैं जिसमें बोने के लिये एक खारी परिमाण के बीज की आवश्यकता पड़ती थी (<u>अमरकोश</u>,2·9·10) । पूर्व मध्यकाल में बंगाल में भूमि की नाप के ये सभी मानदण्ड प्रचलित थे । इनमें सर्वत्र एक जैसा समीकरण न रहा होगा । पर डी०सी०सरकार[1] का मत है कि 1 कुल्यवाप 8 द्रोणवाप[2] के बराबर था, जो 32 अढवाप के बराबर थे (1 कुल्यवाप=8 द्रोणवाप=32 अढवाप) ।

बंगाल में धान के बीज बोने तथा पौध लगाने, दोनों की प्रथाएँ प्रचलित थीं । इन दोनों प्रथाओं के आधार पर आधुनिक काल के साक्ष्य के प्रकाश में डी०सी०सरकार[3] ने भूमि की नाप के उपर्युक्त मान-दण्डों में निम्नलिखित समीकरण का अनुमान लगाया है:

भूमि की नाप का मानदण्ड	पौध लगाने की स्थिति में	बीज बोने की स्थिति
1 कुल्यवाप	- 128 से 160 बीघे तक	- 38 से 48 बीघे तक
1 द्रोणवाप	- 16 से 20 बीघे तक	- $4\frac{1}{2}$ से 6 बीघे तक
1 अढवाप	- 4 से 5 बीघे तक	- $1\frac{1}{8}$ से $1\frac{1}{2}$ बीघे तक

1· डी०सी० सरकार, वही, पृ० 414·

2· लक्ष्मणसेन के इंडिया आफिस ताम्रपत्र में द्रौणिक शब्द मिलता है । ई०आई०, जिल्द 26, पृ० 1 और आगे ।

3· डी०सी० सरकार, <u>इंडियन एपिग्राफी</u>, पृ० 414·

पर वप् धातु का मूल अर्थ बोना है । इसलिये कम से कम प्रारम्भ में भूमि की कुल्यवाप, द्रोणवाप एवं अढवाप की नापें बोने के लिये आवश्यक बीज के परिमाण के आधार पर ही रही होंगी ।

बंगाल के कुछ अभिलेखों[1] में खारी अथवा खारिका का उल्लेख मिलता है । खारीवाप का उल्लेख कुमायूँ-गढ़वाल के क्षेत्र से प्राप्त पण्डुकेश्वर ताम्रपत्र में भी मिलता है[2]। इससे और अमरकोश के साक्ष्य से भी यह स्पष्ट है कि खारीवाप का प्रचलन भारत के एक विस्तृत क्षेत्र में था ।

बंगाल के पूर्व मध्यकाल के कुछ अभिलेखों से पता चलता है कि अढवाप, उन्मान, उदान, अथवा उदमान में उपविभाजित था । उन्मान, उदान, अथवा उदमान काक, काकिणी, अथवा कान्ती में उपविभाजित था । डी०सी० सरकार के अनुसार उदमान, उन्मान, अथवा उदान का सम्बन्ध उसके उपविभाग काकिणी से बैठाना कठिन है । अढवाप से भी उसका सम्बन्ध निश्चित करना कठिन है । सामान्य रूप से बंगाल के अभिलेखों में भूमि की नाप के लिये आने वाले इन शब्दों के अवरोही क्रम के आधार पर यह कहा जा सकता है कि काकिणी भूमि की सबसे छोटी नाप थी । पर कुछ अभिलेखों में काकिणी का उल्लेख उन्मान के

---

1. उदाहरणार्थ लक्ष्मणसेन का मदैनार ताम्रपत्र, मजूमदार, इंस्क्रिप्शनस ऑफ बंगाल, जिल्द 3, पृ० 112.

2. ई०आई०, जिल्द 31, पृ० 192.

पहले मिलता है[1]। फिर भी लक्ष्मण सेन के सुन्दरवन ताम्रपत्र के आधार पर डी0सी0 सरकार का अनुमान है कि उन्मान 32×32 हस्त=704 वर्गहस्त=लगभग $\frac{1}{9}$ बीघा रहा होगा[2]। उनके मत से यह सम्भावना हो सकती है कि 45 उन्मान का 1 अढवाप रहा होगा[3]। काकिणी के सम्बन्ध में उनका अनुमान है कि उसकी नाप 120 वर्ग हस्त रही होगी[4]। इसका प्रचलन बंगाल में ब्रिटिश काल में भी था[5]। बंगाल के कुछ अभिलेखों में पाटक भी भूमि की एक नाप मिलती है। गुनैवर दानपत्र से पता चलता है कि पाटक की नाप 40 द्रोणवाप या 5 कुल्यवाप रही होगी[6]। लक्ष्मणसेन के शक्तिपुर दानपत्र में भी पाटक शब्द मिलता है[7]।

धान्योत्पत्ति के आधार पर भूमि की माप

धान्योत्पत्ति के आधार पर भूमि की स्थूल माप के आकलन के प्रमाण पूर्वी भारत के कुछ अभिलेखों में मिलते हैं। इन्द्रपाल के गौहाटी ताम्रपत्र[8] में

---

1. उदाहरणार्थ, विग्रहपाल तृतीय का आमगाछी दानपत्र, एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द 15, पृ0 293.
2. इंडियन एपिग्राफी, पृ0 417-18.
3. वही, पृ0 418.
4. डी0सी0सरकार, इंडियन एपिग्राफी, पृ0 416.
5. वही, पृ0 416.
6. डी0सी0सरकार, सेलेक्ट इंस्क्रिप्शन्स, पृ0 332.
7. ई0आई0, जिल्द 21, पृ0 216 और आगे; द्रष्टव्य डी0सी0सरकार, इंडियन एपिग्राफी, पृ0 416.
8. चतुः सहस्रोत्पत्तिक-भूमौ-जर्नल आफ दि एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, जिल्द 66, पृ0 113 और आगे।

4000 परिमाण (धान्य/धान) की उत्पत्ति वाली भूमि के दान का उल्लेख मिलता है। प्राग्ज्योतिष के रत्नपाल (11वीं शताब्दी) के दो ताम्रपत्रों में से प्रत्येक में 2000 परिमाण (धान्य/धान) की उत्पत्ति वाली भूमि का उल्लेख प्राप्त होता है।[1] इसी प्रकार बलवर्मन् के एक नौगाँग ताम्रपत्र[2] में 4000 परिमाण की उत्पत्ति वाली भूमि के दान का उल्लेख मिलता है। पर यहाँ भूमि के सहस्रों के परिमाण में उत्पत्तिवाली होने का उल्लेख प्रशंसापरक भी हो सकता है। कुछ भी हो, इससे भूमि की वास्तविक नाप का निश्चित अनुमान नहीं हो सकता था।

भूमि की सतह की वास्तविक नाप

भूमि की वास्तविक नाप के आधार पर भी भूक्षेत्र के विस्तार को निर्धारित करने की परम्परा के प्रमाण मिलते हैं। यह भूमि की नाप मुख्यत: हस्त के नाप की इकाई पर आधारित थी।[3] गुर्जर-प्रतीहार काल के सियदोनी (10वीं शताब्दी) लेख में एक क्षेत्र की नाप का उल्लेख है जो 200×225 हस्त थी।[4] एक अभिलेख[5] से ज्ञात होता है कि कभी - कभी यह हस्त राजा का

---

1. धान्यद्विसहस्रोत्पत्तिक-भूमौ-- वही, जिल्द 67, पृ0 99 और आगे।
2. धान्यचतुः सहस्रोत्पत्तिमती..... भूमिः -वही जिल्द 66, पृ0 285 और आगे।
3. दक्षिण भारत में राजा के पद (श्रीपद) की इकाई के आधार पर भी भूमि की नाप के प्रमाण मिलते है। मद्रास आर्क्योलोजिस्ट्स रिपोर्ट, 87(1900); वही, 440(1912): पुष्पा नियोगी द्वारा उद्धृत कान्ट्रीब्यूशन्स टु दि ईकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इण्डिया, पृ0 86.E
4. ई0आई0, जिल्द 1, पृ0 162 और आगे।
5. परमेश्वरीय हस्त-वाइल्लभटट स्वामिन मन्दिर का अभिलेख: वही, जिल्द1.

हस्त होता था । बंगाल में पाल और सेन नरेशों के अभिलेखों में "नल" नामक भूमि की नाप के मापदण्ड के उल्लेख मिलते हैं । यह मापदण्ड "हस्त" इकाई पर आधारित था । इसके कई प्रकार थे । एक सामान्य प्रकार का नल-मापदण्ड था जिसे "अष्टक-नवक"[1] कहा गया है । बी0सी0सेन[2] के अनुसार इस मापदण्ड में 8 हस्त और 9 हस्त के 2 नलों (सरकण्डे या नरकुल के छड़ों) का प्रयोग होता रहा होगा: एक भूमि की लम्बाई नापने के लिये और दूसरा उसकी चौड़ाई नापने के लिये रहा होगा । इस प्रकार एक जोड़ी "अष्टक-नवक" नल से नपने वाली भूमि का क्षेत्रफल, एक नल को एक हस्त या 19 इंच[3] मानने पर, 19x8x19x9=25992 वर्ग इंच या $180\frac{1}{2}$ वर्गफीट रहा होगा[4] । पर सेन शासकों के काल में इस नल-मापदण्ड के अतिरिक्त अन्य स्थानीय नल-मापदण्ड भी विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित थे । उदाहरणार्थ, समतट (दक्षिण-पूर्व बंगाल) में "समतटीयनल" के प्रचलन का साक्ष्य मिलता है[5] । वरेन्द्री में एक अन्य नल-मापदण्ड प्रचलित था[6] ।

1· उदाहरणार्थ, इंडियन ऐन्टिक्वेरी, जिल्द 40, पृ0 195 और आगे ।

2· बी0सी0सेन, सम हिस्टारिकल ऐस्पेक्ट्स ऑफ दि इंस्क्रिप्शन्स आफ बंगाल, पृ0 520 और आगे ।

3· डी0सी0 सरकार के अनुसार हण्टर के स्टैटिस्टिकल एकाउण्ट आफ बंगाल से ज्ञात होता है कि ब्रिटिश काल के प्रारम्भ में नाप के लिये प्रयोग किये जाने वाले छड़ की एवं हस्त की लम्बाई भिन्न-भिन्न मानी जाती थी । उनके अनुसार, सामान्यतः हस्त की लम्बाई 18 इंच थी । इण्डियन एपिग्राफी, पृ0 412, पादटिप्पणी ·

4· बी0सी0सेन, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ एवं उसका पृष्ठ ।

कुछ अभिलेखों में नल की नाप भी विभिन्न क्षेत्रों में अलग-अलग मिलती है। वर्धमान भुक्ति में 56 हस्त का नल प्रयुक्त होता था[1]। लक्ष्मणसेन के इंडिया आफिस प्लेट[2] से ज्ञात होता है कि ढाका के उत्तरी-पूर्वी क्षेत्र में 22 हस्त का मापदण्ड प्रचलित था। उसी नरेश के सुन्दरवन ताम्रपत्र में 32 हस्त के मापदण्ड का उल्लेख मिलता है[3]। कहीं-कहीं भूमि-क्षेत्र की नाप की सूचक संख्याएँ ही मिलती हैं और उनके साथ नल का नाम नहीं मिलता[4]।

दण्ड (डंडे) द्वारा भूमि की सतह नापने की परम्परा प्राचीन थी[5]। इसके उल्लेख वराहमिहिर की बृहत्संहिता (24·9), मार्कण्डेय पुराण[6] आदि में मिलते हैं। एक दण्ड 4 हस्त के बराबर माना जाता था, और यही नल की भी लम्बाई थी[7]। नरवर्मन के मालवा क्षेत्र से सम्बन्धित कदम्बपद्रक दानपत्र

1· वही, पृ० 92 और आगे।

2· ई०आई०, जिल्द 26, पृ० 1 और आगे।

3· इंस्क्रिप्शन्स ऑफ बंगाल, जिल्द 3, पृ० 169 और आगे।

4· उदाहरणार्थ, ई०आई०, जिल्द 29, पृ० 1 और आगे। इसमें अलग-अलग भूमि-क्षेत्रों के नाम के साथ 210, 490 और 151 की संख्याएँ भी मिलती हैं।

5· पर प्राचीन बौद्ध साहित्य में रज्जु या रस्सी द्वारा भी भूमि नापने के साक्ष्य मिलते हैं - जातक, 2, पृ० 366 और आगे; वही, 3, पृ० 293·

6· मोनियर विलियम्स, संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ० 466, स्तम्भ 2·

7· बृहत्संहिता (24·9) पर भट्टोत्पल की टीका में "चतुर्हस्तो दण्डः" मिलता है। भट्टोत्पल ने एक पुराण का उद्धरण दिया है जिसमें यह मिलता है कि

(वि0सं0 1167/1110 ई0)[1] में भी दण्ड द्वारा भूमि की नाप करने का साक्ष्य मिलता है । लेकिन इस अभिलेख से दण्ड की लम्बाई के सम्बन्ध में कोई निश्चित व स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती । डी0सी0 सरकार[2] के अनुसार भी दण्ड और नल समानार्थक थे ।

निवर्तन में भूमि के नाप की परम्परा के उल्लेख हमें प्राचीन काल में <u>बौधायन धर्मसूत्र</u> (3·2·2-4), <u>अर्थशास्त्र</u> (2·20) आदि में मिलते हैं । <u>अर्थशास्त्र</u> में निम्नलिखित समीकरण मिलते हैं:---

4 अरत्नि (हस्त)	=	1 दण्ड
10 दण्ड	=	1 रज्जु
3 रज्जु	=	1 निवर्तन

पर पूर्व मध्यकाल में उत्तर भारत में निवर्तन का प्रचलन कुछ क्षेत्रों में ही मिलता है । कुछ उल्लेख मैत्रक अभिलेखों में मिलते हैं । मालवा क्षेत्र के कदम्बपद्रक अभिलेख(1110 ई0) तथा भोजदेव के वन्सवारा दानपत्र[3] में भी निवर्तन में भूमि की माप के उल्लेख मिलते हैं ।

निवर्तन के विस्तार के सम्बन्ध मे मतभेद मिलता है । वास्तविकता यह लगती है कि विभिन्न कालों और विभिन्न स्थानों में निवर्तन का एक ही क्षेत्र विस्तार न रहा होगा[4] । बौधायन धर्मसूत्र[5] के अनुसार एक निवर्तन 128 दण्ड

के बराबर था । मनु एवं प्रजापति के अनुसार एक निवर्तन 25 दण्ड या 25x25=625 वर्गदण्ड के बराबर था[1] । लीलावती (12वीं शताब्दी) नामक गणित के ग्रन्थ के साक्ष्य के आधार पर एल0डी0 बार्नेट[2] का मत है कि 10 हस्त एक वंश के बराबर था, और 20 वर्ग वंश एक निवर्तन के बराबर था । इस प्रकार लम्बाईऔर चौड़ाई दोनों में 20 वंश होने से एक निवर्तन का क्षेत्रफल 200x200=40000 वर्ग हस्त (लगभग 2 एकड़) होता था । विभिन्न क्षेत्रों में अन्य सतह-नापें भी प्रचलित थीं, जिनके कुछ साक्ष्य हम अभिलेखों में पाते हैं । पादावर्त नाप के साक्ष्य पश्चिमी भारत के कुछ अभिलेखों[3] में मिलते हैं । उड़ीसा के कुछ अभिलेखों[4] में टिम्पीर या तिम्पीर के उल्लेख मिलते हैं । फ्लीट[5] के अनुसार 100 पादावर्त का क्षेत्रफल 100x100 वर्गफीट रहा होगा । पश्चिमी भारत के पूर्व मध्यकाल के कुछ अभिलेखों में विंशोपक[6] भी भूमि की एक नाप मिलती है । चौलुक्य अभिलेखों में पाथ[7] भूमि की एक नाप मिलती है ।

---

1. पुष्पा नियोगी, ऊपर उद्धृत, पृ0 98.
2. एल0डी0 बार्नेट, ऐन्टिक्विटीज ऑफ. इंडिया, लन्दन 1913,पृ0 218 और आगे । लीलावती, कलकत्ता संस्करण,1.6.
3. ई0आई0,जिल्द 31,पृ0 299.
4. वही, जिल्द 29,पृ0 39-40.
5. सी0आई0आई0,जिल्द 3,पृ0 170,नोट 4 .
6. ए0के0 मजूमदार,दि चौलुक्यस आफ गुजरात, पृ0 244, ह एक विंशोपक भूमि का लगान 24 से लेकर 10 द्रम्म(चाँदी के सिक्के) तक अलग-अलग बताया गया है ।
7. एच0सी0रे, डिनैस्टिक हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, जिल्द 2,पृ0 188-89.

इसका क्षेत्रफल 240 वर्गहस्त माना गया है। इसी प्रकार चौलुक्य भीमदेव द्वितीय के एक अभिलेख (वि०सं० 1266) में पत्र[1] नामक भूमि की नाप का उल्लेख मिलता है। इसके बारे में कुछ स्पष्ट नहीं ज्ञात होता। चम्बा के कुछ अभिलेखों[2] में भूमि और भूमिमात्रक (भूमि का 1/4) शब्द भूमि की नाप के लिये मिलते हैं। पर इनका वास्तविक विस्तार नहीं मिलता है। एक गाहडवाल[3] और एक कलचुरि[4] अभिलेख में भूमि की "नालुक" नामक नाप का उल्लेख मिलता है। नालिका शब्द भूमि की नाप के लिये अर्थशास्त्र (2·20·18) में भी मिलता है। एक नलिका को 4 अरत्नि के बराबर माना गया है,[5] पर कुछ विद्वान नालुक का सम्बन्ध संस्कृत शब्द "नलव" से जोड़कर उसे 400, 100 या 120 हस्त के बराबर मानते हैं।[6]

बैजनाथ प्रशस्ति[7] में "वह" नामक नाप का उल्लेख मिलता है। पर यह नहीं पता चलता कि यह सतह-नाप थी, या बीज-नाप। ब्यूहलर[8] के

---

1. इंडियन ऐन्टिक्वेरी, जिल्द 18, पृ० 110 और आगे।
2. इंडियन ऐन्टिक्वेरी, जिल्द 17, पृ० 7 और आगे।
3. ई०आई०, जिल्द 5, पृ० 113 और आगे।
4. वही, जिल्द 7, पृ० 85, 92.
5. कौटिलीय अर्थशास्त्र (कांगले द्वारा अनूदित), 2·20·18.
6. ई०आई०, जिल्द 5, पृ० 113.
7. वही, जिल्द 1, पृ० 97 और आगे।
8. वही.

अनुसार यह वह भूमि थी जिसमें 4 द्रोण बीज की आवश्यकता पड़ती थी । कुछ चन्देल अभिलेखों में "वाथ"[1] शब्द भूमि की एक प्रकार की सतह-नाप के लिये आता है ।

हल-नाप, बीज-नाप और सतह-नाप में समीकरण

हल-नाप, बीज-नाप एवं सतह-नाप के समीकरण के भी कुछ साक्ष्य अभिलेखों में मिलते हैं । नानवा क्षेत्र से प्राप्त मदनपद्रक दानपत्र[2] (1110 ई0) के साक्ष्य के आधार पर यह अनुमान लगाया गया है कि एक हल-नाप 96 दण्ड के बराबर थी[3] । पर इस अभिलेख में केवल 96 पर्वों के दण्ड का उल्लेख एक भू-हल भूमि नापने के लिये मिलता है । इससे यह निश्चित निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि एक हल भूमि 96 दण्ड के बराबर मानी जाती थी ।

चन्देल नरेश मदनवर्मदेव के एक दानपत्र (वि0सं0 1190) में मिलता है कि 10 हल भूमि के लिये $7\frac{1}{2}$ द्रोण बीज की आवश्यकता पड़ती थी[4]। इस प्रकार यहाँ हल-नाप

1· द्रष्टव्य आगे ।

2· ई0आई, जिल्द 20,पृ0 106,108·

3· पुष्पा नियोगी, ऊपर उद्धृत, पृ0 103·

4· सार्ध-द्रोण-सप्त परिकलित-प्रस्थ प्रत्येक-वाथ-व्यवस्थया दशहलावच्छिन्ना भूमि: । ई0आई, जिल्द 10,पृ0 48,पंक्ति 8·

और बीज-नाप का समीकरण निम्नलिखित मिलता है:-

3/4 द्रोणवाप भूमि=1 हलवाप भूमि

पर सर्वत्र यही समीकरण न रहा होगा, क्योंकि विभिन्न क्षेत्रों में विभिन्नतायें रही होंगी। यहाँ प्रस्थ एवं वाध का भी उल्लेख है। एक द्रोण में 16 प्रस्थ होते थे, और एक प्रस्थ बीज एक वाध क्षेत्र में बोने के लिये आवश्यक होता था[1]। एस0के0 मित्रा का मत है कि "वाध" भूमि की सतह की एक नाप थी[2]।

परमर्दिदेव के महोबा दानपत्र[3] में मिलता है कि 10×6=60 वर्ग वाध भूमि 5 हल के बराबर थी और प्रत्येक वाध भूमि के लिये एक प्रस्थ बीज की आवश्यकता पड़ती थी। इससे यह समीकरण निकलता है कि एक हल भूमि 60÷ 5=12 वर्गवाध के बराबर थी। वाध के विस्तार के सम्बन्ध में कोई स्पष्ट

---

1. इस प्रकार एक हल भूमि में बोने के लिये 12 प्रस्थ अनाज की आवश्यकता होती थी। चौलुक्य नरेश कर्ण के एक अभिलेख के अनुसार 4 हल भूमि के लिये 12 पाइला (48 सेर) बीज की आवश्यकता होती थी। ई0आई, जिल्द 1, पृ0 316 और आगे। इस प्रकार गुजरात में एक हल भूमि में बोने के लिये 48÷4=12 सेर बीज की आवश्यकता होती थी।
2. एस0के0 मित्रा, अर्ली रूलर्स ऑफ खजुराहो, कलकत्ता 1958, पृ0 179.
3. पादोनद्रोणचतुष्टयापरिकलितप्रस्थ-प्रत्येक-वाध-व्यवस्थया दैर्घ्ये वाध 10 विस्तारे वाध 6 जातवाध षष्ट्यान्वित ... ई0आई, जिल्द 16, पृ0 12, पंक्ति 11-12.

साक्ष्य नहीं मिलता । पर मालवा क्षेत्र से कदम्बपद्रक अभिलेख (ऊपर) के साक्ष्य के आधार पर पुष्पा नियोगी[1] ने निम्नलिखित समीकरण प्रस्तावित किया है:-

। हल=96 दण्ड=12 वर्ग बाथ ।

पर यह एक अनुमान है जिसकी सत्यता परीक्षणीय है। ब्रिटिश शासन काल में सिलहट (बंगलादेश) में नाप की पूर्व-परम्परा के आधार पर पद्मनाथ भट्टाचार्य ने हल-नाप का समीकरण सतह-नाप से स्थापित करते हुये हल को लगभग 3·4 एकड़ बताया है[2]। पर यह संदेहास्पद है कि यही समीकरण पूर्व मध्यकाल में भी बंगाल में रहा होगा ।

नई भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाना तथा कृषि का प्रसार

कुषाण-गुप्त काल से लोहे का प्रयोग बढ़ने लगा और इसका प्रभाव कृषि पर भी पड़ा । गुप्त काल से लेकर आगे भूमि-दान एवं ग्राम-दान की प्रथा बढ़ने लगी । भूमि एवं ग्रामों का दान प्राप्त करने वालों की संख्या भी बढ़ने लगी, तथा सामन्ती व्यवस्था के विकास के क्रम में भूमि में अधिकार का दावा करने वाले सामन्तों, ग्राम-स्वामियों एवं स्थानीय सरदारों का भी बड़ी संख्या में उदय होने लगा । इस परिवेश में

1· पुष्पा नियोगी, ऊपर उद्धृत, पृ० 104·

2· द्रष्टव्य ऊपर ·

गई भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाने एवं कृषि के प्रसार की प्रक्रिया बलवती होने लगी ।

बुद्धघोस (5वीं शताब्दी ईस्वी) की समन्तपासादिका[1] में मनुष्यों द्वारा अरण्य के पेड़ काटकर अन्न आदि उत्पन्न करने का उल्लेख मिलता है । इस प्रकार वे लोग जंगल के पेड़ काटकर कृषि-योग्य खेत बना लेते रहे होंगे । वे बौद्ध संघ के भिक्षुओं को, जो अरण्य या वन दान में पाये रहते थे, भाग प्रदान करते थे[2]। इस ग्रन्थ में एक अन्य स्थल पर भी वन को कटवाकर, खेत बनवाने का उल्लेख मिलता है[3]। बौद्ध संघ के लिये वन कटवाकर खेत बनवाने के कार्य को वर्जित किया गया था[4]। पर जिस रूप में बुद्धघोस ने इस प्रथा का उल्लेख किया है उससे यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि यह पाँचवीं शताब्दी में प्रचलित थी । ग्राम, भूमि अथवा अरण्य के दान का उपभोग करने वाले व्यक्ति और धार्मिक संस्थाएँ (मन्दिर, मठ आदि) कृषि-उत्पादन की वृद्धि से लाभ के लिये अरण्य-भूमि को कृष्ट भूमि बनवाने का प्रयास करते रहे होंगे । सामान्य भूमिपति भी ऐसा करते रहे होंगे ।

---

1. रुक्खे छिन्दित्वा... सस्सानि अकंसु --
   समन्तपासादिका, नालन्दा संस्करण, जिल्द 2, पृ0 689(पंक्ति 21-22; 24), 690(पंक्ति 1).
2. वही, पृ0 689, (पंक्ति 22).
3. वनं छिन्दापेत्वा केदारे कारापेति---
   वही, पृ0 688(पंक्ति 6).
4. वही, पृ0 688(पंक्ति 8-9).

बाण (7वीं शताब्दी) ने हर्षचरित[1] में विन्ध्याटवी के किनारे स्थित एक वनग्रामक का वर्णन मिलता है, जो जंगल साफ कर बनाया गया ग्राम था: यहाँ लोग कृषि भी करते थे। कथासरित्सागर (3·6·23) की एक कथा में भी वन में उपयुक्त भूमि खोजकर उस पर कृषि करने का उल्लेख मिलता है।

मेधातिथि के मनुस्मृति (8·168) पर भाष्य से यह संकेत मिलता है कि कभी-कभी भूमिपति अपने "अनुपयुज्यमान" (उपयोग में न लाये जाने वाले) क्षेत्र या आराम आदि जोतने के लिये बलपूर्वक (बलात्) दे देते थे। यह व्यवहार विधि-मान्य नहीं समझा जाता था। इससे यह लगता है कि जोतने वाले का उन पर कोई भोगाधिकार नहीं बनता था, और भूमिपति अपनी इच्छानुसार उन्हें वापस ले सकता था। अनुपयुज्यमान क्षेत्र को बलात् देने के उल्लेख से यह स्पष्ट है कि भूमिपति अपने अधिकार की भूमि में कृषि का यथासम्भव अधिक से अधिक विस्तार करने का प्रयास करते थे, और इसके लिये वे कर्षकों पर दबाव भी डालते थे कि वे उनसे उपयोग में न लाये जाने वाले क्षेत्र आदि लेकर उस पर (आधिक या अस्थायी असामी के रूप में) कृषि-कार्य करें। मेधातिथि ने एक अन्य स्थल पर भी कर्षण[2] हेतु खेत एवं स्थण्डिल (बंजर-अकृष्ट भूमि) देने का उल्लेख किया है।

1· वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1964, पृ० 182·

2· मनुस्मृति, 8·167 पर·

काश्यपीयकृषिसूक्ति से भी नई भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाने एवं कृषि के विस्तार की परम्परा पर प्रकाश पड़ता है। इसमें कहा गया है कि जनपद, देश, ग्राम, पर्वत-तट, नदी-तीर, वन, वनान्तर (वन के अन्दर के क्षेत्र) आदि में कृषि-प्रवृत्ति की संकल्पना की जानी चाहिए[1]।

भूमि-सम्बन्धी अधिकार

पूर्व मध्यकाल में भूमि-सम्बन्धी अधिकारों के विषय में एक से अधिक परम्पराएँ एवं प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। इस काल में सामन्तवाद के उदय एवं विकास के कारण राजनीतिक प्रभुत्व का घनिष्ट सम्बन्ध भूसम्पत्ति एवं ग्रामाधिकार से हो गया, और भूमि पर अधिकार प्राप्त कर लेने वाले अथवा भूमि पर अधिकार का दावा करने वाले मध्यस्थों के एक अनुक्रमनिष्ठ वर्ग का उदय हुआ, जिनमें से ऊपर के स्तर के लोग किसी महाराजाधिराज के सामन्त नरेश हुआ करते थे[2]। बड़े सामन्तों के अपने भी सामन्त होते थे। इस प्रकार गाँवों पर अधिकार - जिसमें ग्राम-भूमि पर भी अधिकार सम्मिलित था- के आधार पर भुवनदेव की अपराजितपृच्छा (12वीं शताब्दी-गुजरात) में सामन्तों एवं अन्य भूमि-सम्बन्धी-अधिकार-सम्पन्न लोगों के कई उपविभाग किये गये हैं। इसके अनुसार महामण्डलेश्वर, माण्डलिक, महासामन्त, सामन्त, लघुसामन्त, चतुरंशिक क्रमशः एक लाख, पचास हजार, बीस हजार, दस हजार, पाँच हजार, एवं एक

---

1. काश्यपीयकृषिसूक्ति, श्लोक 243, 327, 328, 527, 528,
2. द्रष्टव्य बी०एन०एस० यादव, एस०सी०एन०आई०, पृ० 136 और आगे, पृ० 253 और आगे।

हजार ग्रामों के स्वामी होते थे[1]। इसके बाद पचास, बीस, तीन, दो गाँवों के तथा एक गाँव के भी स्वामियों का उल्लेख मिलता है[2]। इनमें से निचले स्तर वाले एक या कुछ गाँवों के स्वामी राजपुत्र बताये गये हैं, जिनकी संख्या काफी रही होगी। स्पष्ट है कि यह एक सैद्धान्तिक योजना है। पर यह उस युग की प्रवृत्ति की द्योतक है। अन्य आभिलेखिक एवं साहित्यिक स्रोतों में महाराणक, राणक, राउत, ठक्कुर आदि के भी उल्लेख मिलते हैं, जो विभिन्न क्षेत्रों में अवरोही क्रम में विभिन्न स्तरों के सामन्त थे[3]। ग्रामपति या ग्राम-स्वामी भी उस काल में ग्राम-भूमि पर अधिकार का दावा करने लगे[4]।

इस काल के अभिलेखों[5] में हम भूमि अथवा निबन्ध (राजस्व का अधिकार) के दान के अनेक उल्लेख पाते हैं। विभिन्न कोटियों के अधिकार अन्तरित करने वाले ये दान अधिकतर राजाओं, सामन्तों एवं सरदारों द्वारा ब्राह्मणों, मन्दिरों मठों, सामन्तों, परिवार या कुल के व्यक्तियों एवं विभिन्न पदाधिकारियों को दिये जाते थे। पूर्वमध्यकाल के साहित्यिक स्रोतों में भी हम इन विभिन्न प्रकार के दानों के उल्लेख पाते हैं। उदाहरणार्थ, सोमेश्वर (12वीं शताब्दी) के मानसोल्लास[6] में सैनिक सहायता करने वालों, सामन्तों (सामन्तमान्यकाः),

---

1. वही, पृ० 149, अपराजितपृच्छा, पृ० 201.
2. वही, पृ० 149.
3. राउत राजपुत्र का परिवर्तित रूप है। ठक्कुर सामान्यतः छोटे सरदार रहे होंगे, जो राउत से नीचे के स्तर के थे। इनके उल्लेख मध्य-काल में भी मिलते हैं (पदमावत, सं० एवं व्याख्याकार वासुदेवशरण अग्रवाल, झाँसी, संवत् 2042, पृ० 739)।
4. द्रष्टव्य आगे।
5. बी०एन०एस० यादव, एस०सी०एन०आई०, पृ० 143 और आगे।

मन्त्रियों, आचार्यों, राजकर्मचारियों (भृत्याः), आदि को दान देने का उल्लेख मिलता है । इनको दिये जाने वाले विभिन्न प्रकार के दानों में देशज (छोटे देश के दान), करज (किसी सुनिश्चित क्षेत्र के करों का दान), ग्रामज (ग्राम का दान), आदि का उल्लेख मिलता है । ग्राम का दान दो प्रकार का बताया गया है एक तो अग्रहीत-कर, अर्थात् कर-मुक्त दान, और दूसरा प्रगृहीत-कर, अर्थात् कुछ विशेष कर के उपबन्ध के साथ ग्राम का दान । इसी सन्दर्भ में शासन के माध्यम से दान देने का भी उल्लेख मिलता है, जो स्थायी दान कहा गया है (पुत्रपौत्रप्रपौत्रेण दत्तं नैव विलुप्यते)[1] । इस प्रकार शासन के माध्यम से दान अधिकतर ब्राह्मणों को ही ताम्रपत्रों पर लिखवाकर दिये जाते थे । पर यहाँ सन्दर्भ से यह पता चलता है अन्य लोगों को भी ऐसे दान दिये जाते रहे होंगे । सोड्ढल की उदयसुन्दरी कथा (पृ० 152) में भी एक कायस्थ राजकर्मचारी को ध्रुववृत्ति, अर्थात् स्थायी भूमि-दान, देने का उल्लेख मिलता है । कथाकोश एवं लेखपद्धति से यह पता चलता है कि जो दान सेवा (प्रशासनिक एवं सैनिक सेवा) के लिये होते थे वे सेवा में त्रुटि हो जाने पर राजा द्वारा अधिगृहीत कर लिये जाते थे[2] । इस प्रकार के दान की परम्परा पूर्व मध्यकाल में विशेष रूप से प्रचलित दिखायी देती है ।

भूमि पर सामुदायिक अधिकार की प्राचीन परम्परा का प्रक्षीण होना

भूमि के सामुदायिक अधिकार की परम्परा हमें प्राचीन काल में जैमिनि

---

1. मानसोल्लास, जिल्द 1, 2.1017.
2. बी०एन०एस०यादव, एस०सी०एन०आई०, पृ० 147.

के मीमांसासूत्र (6·7·3) तथा उसके ऊपर शबरभाष्य में मिलती है। पूर्व मध्य-काल में भी इस परम्परा के कुछ अवशेष विद्यमान थे। गाँव में चरागाह की भूमि तथा तालाब पर सामुदायिक या सामूहिक अधिकार के साक्ष्य इस काल में भी कुछ मिलते हैं। पर कुछ भूमि-दान-पत्र यह द्योतित करते हैं कि ग्राम-दान के साथ चरागाह की भूमि पर अधिकार भूमि-दान प्राप्त करने वालों को प्रदान किया जाने लगा[1]। इस प्रकार भूमि पर सामुदायिक अधिकार के अवशेष प्रक्षीण होने लगे। कल्हण की राजतरंगिणी (8·2226) से पता चलता है कि दान में दी गई एक चरागाह भूमि को राजा ने फिर से वापस ले लिया और इस पर एक चरवाहे ने दुखी होकर आत्महत्या कर ली। यह साक्ष्य भी उसी प्रवृत्ति पर प्रकाश डालता है। इस प्रकार जैसे-जैसे राजाओं एवं भूमि पर अधिकार का दावा करने वाले मध्यस्थों का भूमि पर अधिकार बढ़ता गया और भूमि-दान की परम्परा भी विस्तृत होने लगी वैसे-वैसे भूमि पर सामुदायिक अधिकार की परम्परा प्रक्षीण होने लगी।

भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व या अधिकार

वैदिक काल से लेकर मौर्योत्तर काल तक के ग्रन्थों में हम वैयक्तिक लोगों द्वारा कृषि-योग्य भूमि के ग्रहण एवं अधिकार के प्रमाण पाते हैं। ये वैयक्तिक लोग मुख्यत: प्रधान रूप से संयुक्त परिवार का प्रतिनिधित्व करते थे[2]। आर० एस० शर्मा के अनुसार प्रारंभिक धर्मशास्त्र ग्रन्थों में धार्मिक दान के अतिरिक्त

1· आर०एस० शर्मा, इंडियन फ्यूडलिज्म, पृ० 114·

2· वही, पूर्वोद्धृत ग्रन्थ, पृ० 118·

अन्य किसी उद्देश्य से किसी व्यक्ति द्वारा अपनी भूमि के अन्तरित करने का विधान नहीं मिलता[1]। इनका यह कथन महत्त्वपूर्ण है कि गुप्त काल तथा उसके बाद ही धर्म-शास्त्र ग्रन्थों में भूमि पर अधिकार के द्योतक भूमि के विक्रय करने, बँटवारा करने, बंधक रखने, प्रतिकूल कब्जा, तथा पट्टा (इजारा) देने के विधान मिलते हैं। पहले के धर्मशास्त्र ग्रन्थों में अधिकार प्राप्त करने के उल्लेख कृषि-योग्य भूमि के सन्दर्भ में नहीं प्राप्त होते हैं।

भूमि के बँटवारे का स्पष्ट उल्लेख हम बृहस्पति (गुप्त-काल), कात्यायन (गुप्त-काल), देवल (600-900ई0), शंखलिखित (600-900ई0) आदि में पाते हैं। यहाँ तक कि बृहस्पति ने चरागाह तक की भूमि के बँटवारे का विधान किया है। जहाँ तक भूमि के विक्रय करने का प्रश्न है, उसका उल्लेख गुप्त-काल से लेकर 12वीं शताब्दी तक के धर्मग्रन्थों में मिलता है। बृहस्पति-स्मृति में यह उल्लेख मिलता है कि विक्रय के समय खेतों, कुओं, तालाबों, पेड़ों आदि का उल्लेख होना चाहिये[2]। बारहवीं शताब्दी में लक्ष्मीधर ने अपने कृत्यकल्पतरु के व्यवहारकाण्ड में यह व्याख्या दी है कि स्थावर के विक्रय से तात्पर्य गाँव, खेतों आदि के विक्रय से है। इस प्रकार विक्रय के सन्दर्भ में नारदस्मृति में आये स्थावर शब्द की व्याख्या लक्ष्मीधर ने निम्न प्रकार से की है -

स्थावरस्य ग्रामक्षेत्रादे:[3]।

---

1. वही, पृ0 118,
2. धर्मकोश, (लक्ष्मण जोशी द्वारा सम्पादित) जिल्द 1, पृ0 761.
3. लक्ष्मीधर, कृत्यकल्पतरु-व्यवहारकाण्ड, संपादक के0वी0आर0 आयंगर, बड़ौदा ओरियन्टल इन्स्टीट्यूट, पृ0 430.

ऋण लेने में भूमि (क्षेत्र आदि) के आधि अर्थात् बन्धक रखने के अपेक्षाकृत विस्तृत विधान पूर्व मध्यकाल के धर्मशास्त्र ग्रन्थों में मिलते हैं[1]। ये सब साक्ष्य भूमि के व्यक्तिगत स्वामित्व की परम्परा से सम्बन्धित हैं। आर० एस० शर्मा[2] के अनुसार, पूर्व मध्यकाल में व्यक्तिगत भूस्वामित्व की परम्परा काफी हद तक सामान्य किसानों का नहीं अपितु भूस्वामियों का हित-संवर्धन करती थी।

राजाओं और बड़े भूमिपतियों के अतिरिक्त छोटे भूमिपति और क्षेत्रपति भी होते थे। ये क्षेत्रपति भी कभी-कभी अपनी भूमि असामियों को दे देते थे, जिनका भूमि का धारणाधिकार पराधीन तथा अस्थायी होता था। मिताक्षरा[3] के अनुसार कृषि-कार्य में लापरवाही करने वाले कर्षक से भूमि लेकर दूसरे कर्षक को दी जा सकती थी।

<u>राजा के भूस्वामित्व-सम्बन्धी विचारधारा</u>

पूर्व मध्यकाल में हमें कई धर्मशास्त्रकारों द्वारा राजा के भूस्वामित्व

---

1. <u>बृहस्पतिस्मृति</u> (10,67)- <u>कृत्यकल्पतरु</u> के व्यवहारकाण्ड (पृ० 297) में उद्धृत। विष्णु एवं कात्यायन-<u>कृत्यकल्पतरु</u> के व्यवहारकाण्ड (पृ० 301, 302) में; मनु (8.143) पर मेधातिथि का भाष्य-सोपकारः क्षीरिणी गौः क्षेत्रारामादि।
2. <u>इंडियन फ्यूडलिज्म</u>, पृ० 123,124.
3. <u>धर्मकोश</u> (लक्ष्मण जोशी द्वारा), जिल्द 1, पृ० 943.

का समर्थन मिलता है । कात्यायन स्मृति (गुप्त काल)[1] के दो श्लोकों से काशीप्रसाद जायसवाल[2] ने व्यक्तिगत भूस्वामित्व तथा यू० एन० घोषाल ने राजा के भूस्वामित्व का तात्पर्य निकाला है । पी०वी० काणे[3] ने इस पर यह मत व्यक्त किया है कि सामान्य रूप से राज्य (State) सभी भूमियों का स्वामी माना जाता था, पर व्यक्ति और समुदाय भी, जो अपने कब्जे की भूमि पर कृषि करते थे, व्यावहारिक रूप से उसके स्वामी माने जाते थे । पर उनका यह स्वामित्व इस उपबन्ध के साथ था कि उनके ऊपर भूमिकर देने का दायित्व होता था और राज्य को यह अधिकार होता था कि कर न देने पर उनकी भूमि वह किसी दूसरे को दे दे । काणे ने यहाँ राज्य (State) के भूस्वामित्व की बात की है । पर रामशरण शर्मा ने ठीक ही कहा है यहाँ राज्य के नहीं अपितु राजा के भूस्वामित्व का विचार मिलता है[4] ।

1• भूस्वामी तु स्मृतो राजा नान्यद्रव्यस्य सर्वदा,
तत्फलस्य हि षड्भागं प्राप्नुयान्नान्यथैव तु ।
भूतानां तन्निवासित्वात् स्वामित्वं तेन कीर्तितम्
तत्क्रियाबलिषड्भागं शुभाशुभनिमित्तजम् ।
पी०वी०काणे, कात्यायनस्मृति-सारोद्धार, श्लोक 16,17• इन श्लोकों को लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) ने अपने कृत्यकल्पतरु के राजधर्मकाण्ड (पृ० 90) में उद्धृत किया है ।

2• काशी प्रसाद जायसवाल, हिन्दू पालिटी (भाग-2), पृ० 173 और आगे ।

3• पी०वी० काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द 3, पृ० 495•

4• आर०एस० शर्मा, इंडियन फ्यूडलिज्म, द्वितीय संस्करण, पृ० 115, राजाओं द्वारा व्यक्तिगत पुण्य-लाभ के उद्देश्य से दिये जाने वाले भूमि-दान इस बात के प्रमाण हैं कि वे अपने को बड़े भूस्वामी के रूप में मानते थे ।

वास्तव में हम कात्यायन के उपर्युक्त श्लोकों में किसी प्रकार के निरपेक्ष (absolute), अथवा एकान्तिक भूस्वामित्व का विचार नहीं पाते। यहाँ राजा और सामान्य व्यक्ति दोनों के उसी भूमि पर स्वामित्व होने का विचार मिलता है। पर यह स्वामित्व समानस्तरीय नहीं था, और राजा का स्वामित्व ही प्रवर होता था[1]। राजा के भूस्वामित्व का एक सबसे स्पष्ट प्रतिपादन नारदस्मृति के एक श्लोक (4.93) पर असहाय (8वीं शताब्दी) की टीका में निम्नवत् मिलता है— नरेन्द्रधन-शब्देन भूमिरुक्ता किल नरेन्द्राणां भूमिरेव धनमित्यत:। स्त्रीनरेन्द्रधने विंशतिवर्षैरपि न नश्यत इति।
यहाँ भूमि को राजा का धन बताया गया है, जिससे राजा के भूस्वामित्व को स्पष्ट रूप से मान्यता दी गई है। नारद स्मृति में आये हुये "राजस्वं श्रोत्रियद्रव्यं न भोग्येन प्रणश्यति[2]" पर टीका करते हुये असहाय ने "राजस्व" शब्द की व्याख्या निम्नलिखित रूप में की है—

राजस्वशब्देन भूमिरुक्ता[3]।

नारदस्मृति में यह भी कहा गया है कि स्त्रीधन और राजा के धन के, हक के बिना, सौ वर्षों (वत्सराणां शतैरपि) तक उपभोग करने पर भी उस पर प्रतिकूल कब्जा नहीं हो सकता[4]। यही विचार और अधिक स्पष्ट और विकसित

---

1. द्रष्टव्य, बी०एन०एस० यादव, एस०सी०एन०आई०, पृ० 252.
2. दि इंस्टिट्यूट्स ऑफ नारद, सम्पादक ज्यूलियस यॉली, कलकत्ता 1985, पृ० 70, श्लोक 81.
3. उपर्युक्त श्लोक पर असहाय की टीका, वही, पृ० 70.
4. वही, पृ० 70, श्लोक 83.

रूप में भट्टस्वामिन् (12वीं शताब्दी) की अर्थशास्त्र की टीका में उद्धृत एक श्लोक में मिलता है-

राजा भूमेः पतिर्दृष्टः शास्त्रैरुदकस्य च ।
ताभ्यामन्यत्तु यद्द्रव्यं तत्र स्वाम्यं कुटुम्बिनाम् [1] ।।

यहाँ पर राजा को भूमि और जल दोनों का स्वामी बताया गया है और यह कहा गया है कि कुटुम्बियों अर्थात् कृषकों का स्वामित्व इन दोनों को छोड़कर अन्य द्रव्यों पर हो सकता है । लल्लन जी गोपाल ने यह ठीक ही कहा है कि राजा के जल का स्वामी होने का स्पष्ट प्रमाण यहीं सबसे पहले मिलता है । मिताक्षरा [2] में भी भूमिदान के सन्दर्भ में भूस्वामित्व के अन्तरण का उल्लेख किया गया है; इससे भी राजा के भूस्वामित्व पर प्रकाश पड़ता है ।

नरसिंह पुराण के टीकाकार ने भी यह कहा है कि भूमि राजा की होती थी, कृषकों की नहीं [3] । इस प्रकार राजा के भूस्वामित्व के समर्थन के साथ ही कृषकों के भूस्वामित्व को नकारने की प्रवृत्ति के कारण कृषकों का भूमि

1· जे०बी०ओ०आर०एस०, जिल्द 12, भाग 2, पृ० 139· यहाँ पर यह विचारणीय है कि मनुस्मृति, जो प्राचीन काल की स्थिति की द्योतक है, में राजा को भूमि का पति नहीं अपितु अधिपति कहा गया है-
भूमेरधिपतिर्हि सः (मनुस्मृति, 8·39)·
यहाँ राजा का उच्चस्तरीय स्वत्व ही माना गया हैं । वास्तविक व्यावहारिक स्वत्व कृषकों का ही रहा होगा ।
2· भूमिं दत्वा स्वत्वनिवृत्तिं कृत्वा-याज्ञवल्क्यस्मृति 1·18 पर विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा टीका ।
3· एम०ए० बुच द्वारा उद्धृत, "इकोनॉमिक लाइफ इन ऐंशेंट इण्डिया, जिल्द 2, पृ० 24 और आगे ।

में स्वत्व एक विवारणीय हद तक अशक्त एवं पराधीन होकर प्रक्षीण हो गया होगा। इस प्रवृत्ति से यह भी परिलक्षित होता है कि भूमि में उच्च-स्तरीय स्वत्व केवल उन्हीं के माने जाते थे जो राजनीतिक शक्ति या राजत्व से विभूषित होते थे। पूर्व मध्यकाल में राजत्व के विखण्डन की स्थिति परिलक्षित होती है, और सम्राट से लेकर कुछ ग्रामों के स्वामी तक राजत्व से विभूषित लोगों के अवरोही क्रम में कई स्तर बन गये थे।

पूर्व मध्यकाल के बहुत से अभिलेखों में राजाओं द्वारा भूमि, जल, पेड़, आकर, निधि आदि के अधिकार सहित ~~राजाओं द्वारा~~ भू-क्षेत्रों के दान के उल्लेख मिलते हैं। डेरेट[1] ने ठीक ही कहा है कि यहाँ पर भू-संपदा का लगभग आत्यंतिक हक प्रदान करने की स्थिति परिलक्षित होती है। पर मिताक्षरा से यह स्पष्ट होता है कि ग्राम आदि के दान में भूस्वामित्व का ही अन्तरण सदैव नहीं किया जाता था, क्योंकि निबन्ध, अर्थात् कर के रूप में भूमि से आय, के भी दान का उल्लेख मिलता है[2]।

सामन्तों का भूमि में अधिकार

सामान्य रूप से सर्वोच्च नरेश का भूमि में सर्वोच्चस्तरीय प्रवर अधिकार माना जाता था[3] और सामन्तों का भूमि में प्रवर अधिकार उससे निम्न कोटि

---

1. जे०डी०एम० डेरेट, बुलेटिन ऑफ द स्कूल ऑफ ओरियन्टल ऐण्ड अफ्रीकन स्टडीज, लन्दन यूनिवर्सिटी, जिल्द 18, भाग-3, 1956, पृ० 481 और आगे।
2. याज्ञवल्क्य स्मृति, 1.3 पर मिताक्षरा टीका।
3. उपमितिभवप्रपञ्चाकथा (पृ० 840) के अनुसार सर्वोच्च नरेश (प्रभुः परमेश्वरः) सामन्त राजाओं के ग्रामों एवं पुरों का उच्च स्तर का स्वामी माना जाता था—
   राज्ञां ग्रामपुराणां च स स्वामी नात्र संशयः।

का था। कई अभिलेखीय साक्ष्य इस बात की ओर इंगित करते हैं कि सामन्त नरेश अपने स्वामी नरेश की अनुमति से ही भूमि-दान दे सकते थे। पर बहुत से ऐसे भी अभिलेखीय साक्ष्य हैं जिनसे यह ज्ञात होता है कि अधिक शक्तिशाली हो जाने पर सामन्त नरेश अपने स्वामी नरेश के नाम का उल्लेख किये बिना स्वतन्त्र रूप से भूमि या निबन्ध का दान करने लगे थे। इन साक्ष्यों की समीक्षा लल्लन जी गोपाल[1], बी0एन0एस0 यादव[2] आदि ने की है। यहाँ प्रकरण-सामर्थ्य से लगता है कि बड़े सामन्त नरेशों के भूस्वामित्व के दावों के कारण मुख्यत: महाराजाधिराज का भूस्वामित्व प्रक्षीण हुआ होगा। पर छोटे सामन्त जो केवल कुछ ग्रामों के स्वामी होते थे, के भूस्वामित्व के दावों के कारण उनके स्वामी नरेश और किसानों दोनों के अपने-अपने स्तर के भूस्वामित्व प्रक्षीण एवं परिसीमित हुये होंगे।

<u>ग्राम-स्वामियों द्वारा ग्राम की भूमि में स्वत्व का दावा</u>

ग्रामस्वामी, या ग्रामेश को राजा की ही भाँति कृषकों से उपज का एक भाग ग्रहण करने का स्पष्ट प्रमाण हमें पूर्व मध्यकाल के ग्रन्थ <u>बृहत्पराशर-संहिता</u> में मिलता है। इसमें कहा गया है कि ग्रामेश और राजा दोनों सस्य

---

1. <u>दि ईकोनॉमिक लाइफ आफ नार्दर्न इंडिया</u>, पृ0 12-14.

भाग या कृषि-भाग के अधिकारी होते हैं[1]। अभयतिलकगणि की हेमचन्द्र के द्वयाश्रय महाकाव्य पर टीका में यह मिलता है कि ग्रामपति या ग्रामेश ग्राम की भूमि पर अपने स्वामित्व के कारण तथा राजा देशपति होने के कारण ग्राम के कृषकों से भाग ग्रहण करते थे[2]।

इन साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि पूर्व मध्ययुग में प्राय: ग्रामपति केवल ग्राम प्रधान या ग्राम के सामान्य प्रशासनिक अधिकारी मात्र न रहकर ग्राम स्वामी के रूप में हो गये और ग्राम-भूमि पर एक स्तर के प्रवर अधिकार का दावा करने लगे। उभयतिलकगणि की टीका से यह भी लगता है कि ऐसे ग्रामपति या ग्रामस्वामी ग्राम की भूमि पर राजा के भूस्वामित्व के विरोध

---

1. ग्रामेशस्य नृपस्यापि बलिभि: कृषिजीविभि: ।
   तस्यभाग: प्रदातव्यो यतस्तौ कृषिभागिनौ ।।
   स्मृति-सन्दर्भ, खण्ड 2, नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1988, 4·149-50 (पृ0 750)·
   बालम्भट्ट द्वारा बृहस्पति से सम्बन्धित किये गये एक श्लोक (बृहस्पतिस्मृति, सम्पादक के0वी0आर0 आयंगर, पृ0 368, श्लोक 20) में भी ग्रामेश और नृप को बलि प्रदान करने का उल्लेख मिलता है। यह श्लोक किसी अन्य प्राचीन या मध्यकाल के ग्रन्थ में उद्धृत नहीं मिलता। अत: यह संदिग्ध है कि यह बृहस्पति का है। जो कुछ भी हो यह बृहत्पराशरसंहिता के साक्ष्य के प्रकाश में पूर्व मध्यकाल की ही स्थिति का द्योतक प्रतीत होता है।

2. तेभ्यो ग्रामभूमिस्वामित्वाद् ग्रामपतयो भागं गृह्णन्ति,
   तेभ्यश्च ग्रामपतित्वान्नृपा भागं गृह्णन्ति ।
   द्वयाश्रय, 3·2 पर अभयतिलकगणि की टीका ।

में दावा करते थे: वे अपने को ग्राम-भूमि का स्वामी मानने लगे और राजा को केवल देशपति के रूप में भूमि के उपज के एक भाग का अधिकारी समझने लगे। राजनीतिक एवं सैनिक शक्ति प्राप्त कर लेने वाले ग्राम-स्वामी भूमि के प्रवर स्वत्व का दावा विशेष रूप से करने लगे होंगे। इससे एक ओर तो राजा के भूस्वामित्व सम्बन्धी प्रवर अधिकार कम हुये होंगे और दूसरी ओर कृषकों[1] का भूमि में स्वत्व प्रक्षीण हुआ होगा। अभयतिलकगणि की टीका गुजरात एवं आस-पास के क्षेत्रों की स्थिति को द्योतित करती है। पर कई अन्य क्षेत्रों में भी स्थिति इसी प्रकार रही होगी[2]। जिन ब्राह्मणों, सैनिकों, सरदारों, राजकुल के व्यक्तियों एवं मन्दिरों आदि को राजाओं द्वारा ग्राम प्रदान किये जाते थे उनमें से बहुतों को ग्राम-भूमि में प्रवर स्वत्व अन्तरित कर दिये जाते थे। पर इस अन्तरण के बिना भी वे ग्राम-भूमि पर प्रवर स्वत्व का दावा कर सकते थे। जैसा कि <u>अपराजितपृच्छा</u> (प० 194) से ज्ञात होता है, एक गाँव या कुछ गाँवों पर राजपुत्र सरदार अपनी सैनिक शक्ति से राजनीतिक अधिकार स्थापित कर लेते थे। इस प्रकार राजा और कृषकों के बीच ग्रामस्वामियों के एक वर्ग का उदय पूर्व मध्यकाल में हुआ जो ग्राम-भूमि पर प्रवर स्वत्व का दावा करने लगे।

---

1. पुष्पदन्त (10वीं शताब्दी) के <u>महापुराण</u> (8·6) में खेतों के स्वामी कृषकों को छेत्तवई (क्षेत्रपति) कहा गया है।

2. इस सन्दर्भ में वराहमिहिर के <u>बृहज्जातक</u> (21·1) एवं <u>बृहत्संहिता</u> (11·62) पर भट्टोत्पल (10वीं शताब्दी-कश्मीर) की टीका का साक्ष्य महत्त्वपूर्ण लगता है। इसके अनुसार, भोगी जो ग्रामों का भोग करते थे, "नृपतुल्य" होते थे, और राजा उन्हीं से अपना भोग (कर आदि) प्राप्त करता था।

क्रमशः....

पर राजा सर्वोच्च नरेश (सम्राट) के अतिरिक्त सामन्त नरेश भी हो सकता था। चण्डेश्वर के राजनीतिरत्नाकर[1] से ज्ञात होता है कि सम्राट और करद या अकरद सामन्त नरेश सभी राजा कहे जाते थे।

पुष्पदत्त (10वीं शताब्दी) के महापुराण(8·6) में भूमिदान कर सकने वाले लोगों की तालिका अवरोही-क्रम में निम्नलिखित रूप में मिलती है:--

भूमि दान देने वाले	-	भूमि-दान का परिमाण
1· मंत्रियों एवं सामन्तों से संसेवित नरेश (सर्वोच्च नरेश या सम्राट)	-	देश
2· देश का शासक (सीमित क्षेत्र का शासक या सामन्त)	-	ग्राम
3· ग्रामपति (ग्राम का स्वामी- गामवई)	-	क्षेत्र (खेत)

····· हर्षचरित (सं० पी०वी० काणे, दिल्ली, 1973, पृ० 58) से ज्ञात होता है कि भोगपति कृषकों का उत्पीड़न भी करते थे। भोगी, भोगिक, भोगपति इत्यादि के अन्य साहित्यिक एवं आभिलेखिक साक्ष्यों के लिये द्रष्टव्य बी०एन०एस० यादव, प्रेसीडेंशल ऐड्रेस, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस (41वाँ सेशन- बम्बई, 1980), पृ० 56-7·

1· राजा तु त्रिविधो ज्ञेयः सम्राट् सकरोऽकरः।
राजनीति-रत्नाकर, सम्पादक काशीप्रसाद जायसवाल,

इस प्रकार सामान्य रूप में भूमि पर प्रवर स्वत्व सम्राट से लेकर ग्रामस्वामी तक अवरोही क्रम में मुख्यत: तीन स्तरों के थे। इसके बाद क्षेत्रपति (खेत्तवइ) का भी उल्लेख महापुराण में मिलता है, जो केवल कुछ अनाज का दान देते थे।

ऐसा प्रतीत होता है कि राजनीतिक-शक्ति-सम्पन्न लोगों के ही भूमि में कई स्तरों के प्रवर अथवा उच्चस्तरीय स्वत्व होते थे। अपराजितपृच्छा (पृ० 194) में मिलता है कि एक ग्राम या कुछ ग्रामों के स्वामी राजपुत्र सरदार भी गाँवों में राजत्व से विभूषित शासक के रूप में होते थे।[1] कुछ गाँवों के ग्राम-प्रधान भी इसी रूप में परिणत हो गये होंगे। पर जहाँ सम्राट्, राजा, सामन्त नरेश या शासक सरदार सन्निकट रहते रहे होंगे और उनकी शक्ति पर्याप्त रहती रही होगी, वहाँ गाँवों के प्रधान शासक के रूप में राजनीतिक शक्ति नहीं प्राप्त कर सकते रहे होंगे।

o

संयुक्त, समवर्ती, या सांगामी स्वत्व की अवधारणा

यद्यपि कुछ धर्मशास्त्र ग्रन्थों में राजा के भूस्वामित्व की मान्यता मिलती है और कुछ में वैयक्तिक भूस्वामित्व का प्रमाण मिलता है, फिर भी साक्ष्यों का भार यह द्योतित करता है कि गुप्त-काल एवं पूर्व मध्यकाल में एकान्तिक अथवा निरपेक्ष भूस्वामित्व की अवधारणा नहीं थी। जैमिनि (6·7·3) पर भाष्य करते हुये शबर (चतुर्थ शताब्दी) ने लिखा है कि भूमि पर दूसरे लोगों का उतना ही अधिकार होता है जितना राजा का। यहाँ भूमि के संयुक्त

1. इनके लिये महाराजाधिराज एवं विभिन्न कोटि के सामन्त नरेशों की भाँति स्वेच्छा से राज्य करने का उल्लेख मिलता है (एवके स्वभुक्तानुसारे राज्यं कुर्वन्ति स्वेच्छया - अपराजितपृच्छा, पृ० 194)।

स्वामित्व की अवधारणा मिलती है[1]। कात्यायन-स्मृति[2] में भी हमें राजा और सामान्य व्यक्तियों दोनों के उसी भूमि में एक साथ भूस्वामित्व की अवधारणा मिलती है, पर राजा का भूस्वामित्व प्रवर प्रकार का था। जे०डी० एम० डैरेट भी मध्यकाल के धर्मशास्त्र ग्रन्थों के अध्ययन के उपरान्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि उस युग में स्वामित्व या स्वत्व गुणात्मक रूप में प्रविभाज्य (qualitatively sub-divisible) माना जाता था -- उसी भूमि में राजा का, भूस्वामी कहे जाने वाले व्यक्ति का, एवं असामी (tenant) का सामी भूस्वामित्व होता था और अपने-अपने क्षेत्र में सभी भूमि-स्वामी माने जाते थे[3]। ये अलग अलग कोटि के भूस्वामित्व अनुक्रम-निष्ठ थे; पर धर्मशास्त्रकारों ने अलग-अलग कोटि के स्वत्वों का विवेचन नहीं किया है। राजा, सामन्त एवं ग्राम-स्वामी में जो अधिक शक्तिशाली होता वह भूमि में अधिक अधिकार का दावा करता था[4]।

1· आर०एस० शर्मा, इंडियन फ्यूडलिज्म, पृ० 112·

2· द्रष्टव्य ऊपर।

3· मध्ययुगीन योरप की सामन्ती व्यवस्था में भी असामी, उसके स्वामी, उस स्वामी के स्वामी और इसी प्रकार और ऊपर सर्वोच्च नरेश तक उसी भूमि पर अवरोही क्रम में विभिन्न स्तरों के अधिकार मिलते हैं। मार्क ब्लाश, (फ्यूडल सोसाइटी, पृ० 116·

4· द्रष्टव्य ऊपर।

लौकिक स्वत्ववाद

विज्ञानेश्वर की मिताक्षरा में हमें लौकिक स्वत्ववाद की अवधारणा मिलती है। इसका तात्पर्य है कि स्वत्व या सम्पत्ति का आधार लोकमान्यता होती है जो शास्त्र पर आधारित नहीं रहती[1]। विज्ञानेश्वर ने इसी सन्दर्भ में नियम के अतिक्रम से अर्जित सम्पत्ति में भी स्वत्व होना स्वीकार किया है[2]। पर उन्होंने चोरी आदि से अर्जित सम्पत्ति में स्वत्व नहीं स्वीकार किया है, जिसका कारण लोक-मान्यता को ही बताया है, न कि किसी नैतिक आदर्श या धर्म के सिद्धान्त को[3]। बहरहाल एक प्रमुख धर्मशास्त्र ग्रन्थ में इस प्रकार की विचार-धारा यह द्योतित करती है कि वास्तविकता के स्तर पर स्थावर एवं चल सम्पत्ति में स्वत्व का दावा और उसकी लोक-मान्यता एक विचारणीय हद तक धर्मशास्त्र के नियमों के अनुसार न रहे होंगे।

---

1. पी०एन० सेन, जनरल प्रिंसिपुल्स ऑफ हिन्दू जुरिसप्रुडेंस, पृ० 42.
   लौकिकमेव स्वत्वं प्रत्यन्तवासिनाप्यमदृष्टशास्त्रव्यवहाराणां स्वत्व-व्यवहारो दृश्यते। क्रयविक्रयादिदर्शनात्—मिताक्षरा।
   याज्ञवल्क्य स्मृति, व्यवहाराध्याय—दाय भाग (मिताक्षरा टीका एवं बालम्भट्ट की टीका के साथ), सम्पादक एवं अनुवादक एल०एम० वसु, पाणिनि आफिस इलाहाबाद, पृ० 9.
2. नियमातिक्रमार्जितस्यापि स्वत्वमङ्गीकृतम्, वही, पृ० 12, पंक्ति 6.
3. न चैतावता चौर्यादिप्राप्तस्यापि स्वत्वं स्यादिति मन्तव्यम्।
   लोके तत्र स्वत्वप्रसिद्ध्यभावात् व्यवहारविसंवादात्।
   वही, पृ० 18.

बलात्कार द्वारा ग्रहण की गई भूमि में उसके स्वामी की उपेक्षा के कारण स्वत्व-प्राप्ति

नारदस्मृति के एक श्लोक[1] पर व्याख्या करते हुये असहाय[2] ने लिखा है कि यदि कोई व्यक्ति अपनी द्विपद, चतुष्पद एवं स्थावर आदि सम्पत्ति के प्रीतिपूर्वक समर्पित करने के कारण, बलात्कार (जोर-जबर्दस्ती) से किसी के द्वारा ग्रहण कर लिये जाने के कारण, या खाली होने की स्थिति में किसी के द्वारा कब्जा कर लिये जाने के कारण दूसरे द्वारा भुज्यमान् हो जाने की चिरकाल तक उपेक्षा करता है, तो उस स्थावर आदि सम्पत्ति को वे दूसरे लोग अपने अधिकार में कर लेते हैं।

यही स्थिति गौतम की हरदत्त[3] की टीका में और अधिक स्पष्ट रूप में मिलती है। उसमें मिलता है कि डर और आतंक के कारण कमजोर लोग

---

1. भुज्यमानान् परैरर्थान्य: स्वान्मोहादुपेक्षते ।
   समक्षं जीवतोऽप्यस्य तान् भुक्ति: कुरुते वशे ।।
   नारद स्मृति, कृत्यकल्पतरु के व्यवहारकाण्ड (पृ0 185) में उद्धृत।

2. स्वकीयानर्थान् द्विपदचतुष्पदस्थावरादिकान्
   प्रीतिसमर्पितबलात्कारगृहीतशून्याक्रान्तादिप्रकारै:
   परैर्भुज्यमानानुपेक्षते । तस्य जीवितोऽपि चिरकालातिक्रान्ता
   भुक्ति: तान् पराणामेव वशीकुरुते । प्रत्यक्षं
   प्रापयति । किं पुनर्मृतस्येति ।
   असहाय की टीका, कृत्यकल्पतरु के व्यवहारकाण्ड (पृ0 185) में उद्धृत ।

3. उपेक्षाकारणोपपत्ते: राजपुरुषस्य तु भयेन ।

शक्तिशाली लोगों के विरुद्ध अपनी भूमि के अधिकार का दावा नहीं कर पाते थे। इसी टीका में यह भी बतलाया गया है कि जिन लोगों के डर के कारण सामान्य लोग अपने भूमि के वैध अधिकार का दावा नहीं करते थे वे राज/पुरुष अथवा शक्तिशाली और साहसिक लोग होते थे। पूर्व मध्य-काल में राजनीतिक और सैनिक शक्ति से युक्त गाँव और भूमि के स्वामियों के एक वर्ग के उदय हो जाने के कारण यह प्रवृत्ति बढ़ गई होगी। यद्यपि हरदत्त ने यह लिखा है कि ऐसी स्थिति में भूमि के वे वास्तविक स्वामी जो डर के कारण अपने वास्तविक स्वत्व का दावा नहीं कर पाते थे अपने अधिकार से वंचित नहीं होते थे, पर उन्होंने इस सूत्र के ठीक बाद वाले सूत्र की टीका में लिखा है कि खेतों, बागों आदि पर (साहसिक के रूप में) स्वत्व प्राप्त करने के लिये लम्बे समय के भोग की आवश्यकता नहीं होती थी। स्वत्व थोड़े समय के (स्वल्पेनापि) भोग से ही प्राप्त हो जाता था।

उपर्युक्त साक्ष्यों से यह लगता है कि छोटे भूमि-स्वामी (सीमित अर्थ में) कृषकों का वास्तविक अधिकार कुछ हद तक कहीं-कहीं शक्तिशाली लोग ले लेते लगे होंगे और इस प्रकार वे कृषक असामी के रूप में हो गये होंगे। यह विचारणीय है कि इस युग में, जैसा कि हेमचन्द्र की _देशीनाममाला_[1] से ज्ञात होता है, देशभाषा में ग्रामरोडा, कोंडिओ आदि शब्द प्रचलित हो गये थे, जो उन लोगों के लिये

---

1. बी०एन०एस० यादव, _एस०सी० एन०आई०_, पृ० 299.

प्रयुक्त होते थे जो छलपूर्वक गाँवों का भोग करते थे । वे ग्राम की भूमि में कुछ हद तक अपना उच्चस्तरीय स्वत्व होने का दावा करते रहे होंगे । इस प्रवृत्ति के अवशेष बाद में राजस्थान[1] में मिलते हैं, जहाँ कमजोर कृषक सुरक्षा प्राप्त करने के लिये अपनी भूमि का वास्तविक स्वामित्व सरदारों और राजाओं को समर्पित कर देते थे और फिर उसी भूमि पर असामी के रूप में कार्य करने लगते थे । इस प्रकार के पदच्युत कृषक को वहाँ हली कहा जाता था जो बाहर के अशान्तिपूर्ण वातावरण से डर कर सुरक्षा के लिये अपने वास्तविक स्वत्व को स्वयं ही समर्पित कर देता था । इन परिस्थितियों में कृषकों के भूस्वामित्व के प्रक्षीण होने की प्रवृत्ति भी पूर्व मध्यकाल में क्रियाशील लगती है ।

---

1. टाड, <u>एनल्स एण्ड ऐन्टिक्विटीस ऑफ राजस्थान</u>, संपादक विलियम क्रुक, जिल्द 1, पृ0 106.

अध्याय 2

सिंचाई के साधन

अध्याय 2

सिंचाई के साधन

कृषि के लिये जल का महत्त्व पूर्व मध्यकाल में सुस्पष्ट था । भुवनदेव (12वीं शताब्दी) की अपराजितपृच्छा[1] के अनुसार, राज्य के लिये शस्य आवश्यक है और शस्य के लिये जलाशय । काश्यपीय-कृषि-सूक्ति[2] में भी कृषि को "जलमूला" कहा गया है । सिंचाई के दो प्रकार के साधन पहले से ही प्रचलित थे— एक तो प्राकृतिक साधन, और दूसरे कृत्रिम साधन ।

सिंचाई के प्राकृतिक साधन

प्राकृतिक साधनों में विभिन्न भौगोलिक परिस्थितियों में नदियाँ, अन्य प्राकृतिक जल-प्रवाह, प्राकृतिक (देवखात)[3] सरोवर एवं ह्रद (झील) तथा वर्षा थे । इनमें नदियों एवं वर्षा का विशेष उल्लेख मिलता है । अमरकोश[4] में जहाँ नदियों से सिंचाई करके कृषि वर्धित की जाती है उस क्षेत्र को "नदीमातृक" तथा जहाँ वर्षा के पानी से ही सिंचाई हो सकती है उसे "देवमातृक" कहा गया है । पर नदियों से सिंचाई उनके किनारे के भूभाग पर ही हो सकती थी ।

---

1. राज्यार्थं धार्यते शस्यं शस्यार्थं तु जलाशयम् ।
   अपराजितपृच्छा, पृ० 186, श्लोक 9.
2. जलमूला कृषिर्मता । काश्यपीयकृषिसूक्ति, श्लोक 177.
3. अमरकोश, 1.10.27.
4. वही, 2.1.12.

अरब भूगोलवेत्ता एल इस्तखरी एवं इब्न हौकल ने सिंध में मिहरान नदी की बाढ़ के जल से तटवर्ती भूमि में नमी पहुँचाने एवं बाढ़ निकल जाने के बाद फिर उसमें बीज बोये जाने का उल्लेख किया है[1]। यह नदी द्वारा भूमि की सिंचाई का एक सुप्रचलित प्रकार था। इसी प्रकार प्राकृतिक जलाशय, झील, आदि भी कुछ स्थानों पर उपलब्ध थे। वर्षा भी उत्तरी भारत में थार के मरुस्थल तथा कुछ अन्य क्षेत्रों में अपर्याप्त होती थी, और जहाँ पर्याप्त होती थी वहाँ भी कभी-कभी अनावृष्टि, अकालवृष्टि, खण्डवृष्टि, अथवा स्वल्पवृष्टि के कारण संकट उत्पन्न हो जाता था। ऐसी विशेष स्थिति के कारण सिंचाई के कृत्रिम साधन कृषि की वृद्धि के लिये अत्यन्त महत्त्वपूर्ण होते थे।

सिंचाई के कृत्रिम साधन और उनका बढ़ता महत्व

सिंचाई के कृत्रिम साधन भी प्राचीन काल से ही प्रचलित थे। पूर्व मध्यकाल तक आते-आते उनका काफी विस्तार हो गया। भुवनदेव की अपराजितपृच्छा[2] में सिंचाई के कृत्रिम साधनों के अन्तर्गत निर्माण कराये गये जलाशय, बन्धित (नदियों पर बनाये गये बाँध), कूप, अरहट्ट एवं सारणी (नहर) को परिगणित किया गया है। इस ग्रन्थ में यह बताया गया है कि अनावृष्टि व स्वल्पवृष्टि के प्रकोप से बचने के लिये और कृषि-उत्पादन की वृद्धि के लिये सिंचाई के कृत्रिम साधनों का विस्तार करना चाहिये और जल का संचय करना चाहिये[3]। इस में

---

1. इलियट ऐण्ड डाउसन, 1,30,40.
2. अपराजितपृच्छा, पृ0 188, श्लोक 33-36
3. वही, पृ0 188, श्लोक 32 और आगे।

कुओं, वापियों, कुण्डों और सरों के विभिन्न प्रकारों को गिनाया गया है, जिससे भी यह स्पष्ट होता है कि इस काल में सिंचाई के कृत्रिम साधनों के विकास पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा। इस ग्रन्थ में सिंचाई के कृत्रिम साधनों के निर्माण का महत्त्व बताते हुये यह कहा गया है कि जिसका गोपद मात्र भी जल पृथ्वी धारण करती है वह साठ हजार वर्षों तक शिवलोक का भागी होता है[1]। सिंचाई के कृत्रिम साधनों के महत्त्व के ऊपर पूर्व मध्यकाल में विशेष बल दिया गया। इस सम्बन्ध में अपराजितपृच्छा के उपर्युक्त साक्ष्य के अतिरिक्त लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरु के दानकाण्ड का साक्ष्य भी उल्लेखनीय है। लक्ष्मीधर ने दानकाण्ड[2] में पूर्व परम्परा से हटकर कुएँ खुदवाने, तालाबों का निर्माण कराने और पर्वतीय झरनों पर बाँध बनाने (झारी बन्ध) को धार्मिक पुण्य की प्राप्ति हेतु दान के अन्तर्गत बताया है। कुछ अभिलेखों में भी हमें अरहट्ट के दान तथा उससे होने वाले पुण्य के उल्लेख मिलते हैं। प्राचीन काल से ही कुएँ, तालाब आदि बनवाकर पानी की सुविधा उपलब्ध कराना राजा का कर्त्तव्य माना जाता था। मानसार में कहा गया है कि राजा द्वारा कूप एवं तड़ागों का निर्माण सभी बसे हुये क्षेत्रों में इस प्रकार कराना चाहिये कि वे बहुसंख्यक लोगों को सुलभ हो सकें।

पर यह विचार कि राजा, सामन्त आदि केवल कर्तव्य-भावना अथवा धार्मिक भावना से ही प्रेरित होकर जलाशयों आदि का निर्माण कराते थे

---

1. यस्य गोपदमात्रं तु ह्युदकं धारयेन्मही।
   वर्षषष्टिसहस्त्राणि शिवलोकं स गच्छति।।
   अपराजितपृच्छा, पृ० 185, श्लोक 38.
2. कृत्यकल्पतरु का दानकाण्ड, पृ० 276 और आगे, उद्धृत द्वारा बी०एन०एस० यादव, एस०सी०एन०आई०, पृ० 259.

ठीक नहीं प्रतीत होता है । क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी) के अवदानकल्पलता[1] नामक ग्रन्थ में एक कथा मिलती है जो इस सन्दर्भ में महत्त्वपूर्ण लगती है । उसमें मिलता है कि लोग महेन्द्रसेन नामक एक राजा के नगर को छोड़कर दूसरे राजा के राज्य में चले गये । इस पर वह राजा अपने महामात्य से कहता है कि दण्ड, विष्टि एवं कर तो सभी राजाओं के नगरों में लगभग एक जैसे ही प्रचलित होते हैं[2], और फिर पूछता है कि ऐसा होने पर भी क्यों लोग उसका ही नगर छोड़कर दूसरे राज्य में चले जाते हैं । राजा सोचता है कि दूर के ढोल सुहावने वाली कहावत यहाँ चरितार्थ होती है । पर उसका महामात्य यह उत्तर देता है कि उस दूसरे राज्य में सस्योत्पादन हेतु जल की विशेष सुविधा है, वहाँ लोग मौसम के अतिरिक्त भी फसल (अकाले सस्यसम्पत्तिः)[3] उत्पन्न कर लेते है, और मुख्य रूप से इसी से आकर्षित होकर लोग वहाँ चले गये । इसी सन्दर्भ में उसने कहा कि कृषि राजा की सभी सम्पत्ति का मूल है[4] ।

इस प्रकार इस कथा से यह संकेत मिलता है कि राजाओं एवं सामन्तों को अपने-अपने राज्यों एवं जनपदों से कृषिकरों को न भागने देने के उद्देश्य से भी सिंचाई की व्यवस्था करनी पड़ती थी ।

---

1. अवदानकल्पलता, सम्पादक - पी0एल0 वैद्य, जिल्द 2, दरभंगा 1954, पृ0 388.
2. वही, पृ0 388, श्लोक 28 (विष्टिदण्डकरोन्मुक्त कस्य राज्ञः पुरे जनः) ।
3. अवदानकल्पलता, पृ0 388, श्लोक 34.
4. कृषिसम्पत्तिमूलाश्च भूभुजां सर्वसम्पदः ।
   वही, पृ0 388, श्लोक 34.

अनावृष्टि एवं अकाल [illegible] स्थिति में पानी की व्यवस्था के अभाव में लोगों का इस प्रकार का पलायन अधिक होता था[1]। कथासरित्सागर के अनुसार उस काल में इस आदर्श पर बल दिया गया कि दुर्भिक्ष के समय घर छोड़कर भागना महापाप होता है[2]। पर इसी ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि लोगों पर इस आदर्श का अधिक प्रभाव नहीं पड़ता था[3]।

कुएँ

सिंचाई के कृत्रिम साधनों में कुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान था। अपराजितपृच्छा में चौड़ाई के आधार पर 10 प्रकार के कूपों का वर्णन किया गया है—

(1) श्रीमुख: (वार हस्त)

(2) विजय: (पाँच हस्त)

(3) प्रान्त: (छ: हस्त)

(4) दुन्दभि: (सप्त हस्त)

(5) मनोहर: (अष्ट हस्त)

(6) चूडामणि: (नव हस्त)

(7) दिग्भद्र: (दश हस्त)

(8) जय: (एकादश हस्त)

(9) नन्द: (द्वादश हस्त)

(10) शङ्कर: (त्रयोदश हस्त)

इसी प्रकार कूपिका[1] (छोटे कुएँ) को दो वर्गों में विभक्त किया गया है—

(1) त्रिहस्ता (तीन हस्त)

(2) द्विहस्ता (दो हस्त)

काश्यपीय-कृषिसूक्ति (श्लोक 145-146) में भी राजा द्वारा कुओं के निर्माण पर समुचित बल दिया गया है। इसके अनुसार जिस देश में ग्रीष्मकाल में कुल्या से कृषि एवं उद्यान के लिये जल नहीं प्राप्त होता वहाँ सर्वत्र कुओं के निर्माण कराना चाहिये। (इस पर) इस ग्रन्थ में कूप के तीन प्रकार ही बताये गये हैं—

(1) क्षुद्रकूप, (छोटा कुआँ)

(2) कूप, (कुआँ)

(3) महाकूप, (बड़ा कुआँ)

चूने, गारे एवं इष्टिका (ईंट) आदि से राजा द्वारा कूप-निर्माण कराने का उपदेश भी दिया गया है[2]।

राजा द्वारा ग्रामों, नगरों एवं दुर्गों के निर्माण कराने के सन्दर्भ में उन्हें कूप, वापी, उद्यान आदि से युक्त तथा सस्य-क्षेत्र से आवृत करने की बात भी कही गई है (श्लोक 60-63)। कृषि के क्षेत्र की वापी और तटाक के साथ-साथ कूप द्वारा भी सिंचाई का विशेष महत्त्व बताया गया है :-

वापीभ्यश्च तटाकेभ्य: कूपेभ्यश्च विशेषत: ।

जलपोषणमादिष्टं कृषिक्षेत्राय भूतले ।।

(काश्यपीयकृषिसूक्ति, श्लोक 141)

---

1. वही, पृ0 183, श्लोक 8.

मध्ययुग के सल्तनत काल में भी, जैसा कि प्रो0 इरफान हबीब[1] का अभिमत है, उत्तरी भारत के अधिकांश भागों में कुयें ही सिंचाई के मुख्य कृत्रिम साधन रहे होंगे । मुहम्मद तुगलक (1325-51) ने कृषि के विस्तार हेतु कुएँ खोदने के लिये किसानों को ऋण बाँटा था[2] । इस काल में पक्के (ईंट के बने हुये) व कच्चे, दोनों प्रकार के कुओं के उल्लेख मिलते हैं : संभवत: कच्चे कुएँ अधिक रहे होंगे[3] ।

<u>वापियाँ</u>

<u>अपराजितपृच्छा</u> (12वीं शताब्दी)[4] में वापी के चार भेद बताये गये हैं — (1) नन्दा, (2) भद्रा, (3) जया, (4) विजया ।

नन्दा वापी के लिये बताया गया है कि उसमें एक मुख (एकवक्त्रा) और तीन कूट (शीर्ष) होते थे । भद्रा में दो मुख तथा छ: शीर्षों का विधान किया गया है । जया के लिये तीन मुख और नौ शीर्ष बताये गये हैं । विजया के लिये चार मुख और बारह शीर्ष (सूर्यकूटा) बताये गये हैं ।

पर वापी की यह अवधारणा गुजरात एवं उसके आस-पास के ही क्षेत्रों में विशेष रूप से प्रचलित रही होगी, जहाँ इस ग्रन्थ की रचना हुई थी । पश्चिमी

---

1. इरफान हबीब, <u>दि कैम्ब्रिज ईकोनॉमिक हिस्ट्री ऑफ इंडिया</u>, जिल्द 1, संपादक तपन रे चौधुरी एवं इरफान हबीब, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, 1982, पृ0 48-49.
2. इरफान हबीब, ऊपर उद्धृत, पृ0 वही ।
3. वही, ऊपर उद्धृत, पृ0 वही ।
4. <u>अपराजितपृच्छा</u>, 74, श्लोक 9-11.

चालुक्य नरेश सोमेश्वर (12वीं श0) के मानसोल्लास[1] में कहा गया है कि वापिका अथवा वापी में एक ही द्वार या मुख (द्वारेणैकेन वापिका) होता है । इस प्रकार वापी की यहाँ एक दूसरी अवधारणा मिलती है । यह क्षेत्रीय विभेद के कारण रहा होगा । बहरहाल वापी और कूप आदि के विभिन्न प्रकारों को व्यवस्थित करने का प्रयास यह दर्शाता है कि इस युग में इनके निर्माण पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा ।

तड़ाग एवं कुण्ड

अपराजितपृच्छा[2] में तड़ाग के निम्नलिखित भेद बताये गये हैं --

(1) सर, (2) महासर, (3) भद्रक, (4) सुभद्र, (5) परिघ, (6) युग्मपरिघ ।

सर को अर्द्धचन्द्राकार, महासर को वृत्ताकार, भद्रक को चौकोर (चतुरस्र), तथा सुभद्र को भद्रसंयुत (रमणीकता से युक्त) बताया गया है । "परिघ" बड़े द्वार से युक्त रहा होगा और युग्मपरिघ को उससे दुगना बताया गया है । पालि (तटबन्ध) के दैर्घ्य की दृष्टि से तड़ागों को 3 वर्गों में बाँटा गया है --

---

1. मानसोल्लास, जिल्द 1, सम्पादक जी0के0 श्रीगोण्डेकर, बड़ोदा, 1925, पृ0 8, श्लोक 71.

2. अपराजितपृच्छा, पृ0 185, श्लोक 32-36 ।

(1) ज्येष्ठ (1000 दण्ड)

(2) मध्यम (500 दण्ड)

(3) कनिष्ठ (250 दण्ड)

तड़ागों के तटबन्ध (पालि) की चौड़ाई की दृष्टि से भी उन्हें तीन वर्गों में विभाजित किया गया है --

(1) ज्येष्ठ (50 हस्त)

(2) मध्यम (25 हस्त)

(3) कनिष्ठ (द्वादशकर: -12 हस्त) ।

यह वर्गीकरण भी कुछ हद तक सैद्धान्तिक लगता है, और यह सर्वमान्य भी न रहा होगा । पर इस क्रम वर्गीकरण से उस काल में तड़ागों की संख्या में वृद्धि एवं उनके महत्त्व पर प्रकाश पड़ता है । पुनश्च अपराजितपृच्छा वास्तुशास्त्र का ग्रन्थ है, अत: इसकी योजनानुसार विभिन्न प्रकार के तड़ाग बनवाये भी गये होंगे ।

अपराजितपृच्छा[1] में कुण्ड भी, जो तड़ाग से भिन्न माने गये हैं, 4 प्रकार के बताये गये हैं--

(1) भद्रक, (2) सुभद्रक, (3) नन्दा, (4) परिघ ।

ये देवताओं के मन्दिरों के सामने बनवाये जाते थे और इनका उपयोग धार्मिक कृत्यों के लिये होता था ।

---

1. वही, पृ० 183, श्लोक 12 और आगे ।

विभिन्न प्रकार के जलाधारों—पुष्करिणी, तड़ाग आदि—में अन्तर स्थापित करने का प्रयास।

पश्चिमी चालुक्य नरेश सोमेश्वर के मानसोल्लास[1] में विभिन्न प्रकार के जलाधारों में अन्तर स्थापित करने का प्रयास भी किया गया है। इस ग्रन्थ में कूपादि के निर्माण कराने (कूपादिखननं) का विशेष उल्लेख किया गया है। इसी सन्दर्भ में यह बताया गया है कि कूप वह है जो द्वारहीन होता है, वापिका में एक द्वार होता है, तथा दीर्घिका वह है जो दीर्घाकार होती है। तड़ाग के लिये कहा गया है कि उसका पानी बाँध से चारों ओर से घिरा रहता है (पाल्या विधृततोयस्तु)[2]। पर यह एक योजना है, और यह नहीं कहा जा सकता कि इस सन्दर्भ में मतैक्य रहा होगा। उदाहरणार्थ, यहाँ एक ही द्वार से युक्त वापिका की अवधारणा मिलती है। पर अपराजितपृच्छा में उसके एक से अधिक

---

1. मानसोल्लास, जिल्द 1, पृ0 8, श्लोक 71.
2. वही, पृ0 8, श्लोक 72.

मिट्टी खोदकर तड़ाग के चारों ओर बन्ध बनाने के उल्लेख बुद्धघोस (5वीं शताब्दी) की समन्तपासादिका में भी मिलते हैं --

मत्तिकुद्धरणपालिबन्धनादीनि। वही, जिल्द 2, पृ0 687, पंक्ति 14-5, 18.

बुर्जों व द्वारों का निर्देश किया गया है (द्रष्टव्य ऊपर) । यह क्षेत्रीय अन्तर के कारण रहा होगा । पर यहाँ यह विचारणीय है कि विभिन्न प्रकार के जलाधारों में अन्तर करने का प्रयास भी उनके निर्माण कराने पर अधिक ध्यान देने का सूचक है । यहाँ यह ध्यान में रखना चाहिये कि सभी जलाधार मनुष्य-निर्मित नहीं होते थे । अमरकोश एवं यादवप्रकाश की वैजयन्ती में स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि कुछ जलाधार प्राकृतिक (देवखात)[1] होते थे । इस प्रकार के जलाधारों में बड़े तालाब, झील (ह्रद)[2] आदि रहे होंगे । इस सन्दर्भ में खातक को पुष्करिणी बताया गया है[3] ।

मध्यकाल के कुछ धर्मशास्त्र ग्रन्थों[4] के अनुसार, मनुष्यों द्वारा खुदवाये जाने वाले जलाशय 4 प्रकार के होते हैं--

(1) कूप, (2) वापी, (3) पुष्करिणी, (4) तड़ाग ।

कूप कुआँ है जिसे 5·50 हस्त लम्बाई का बताया गया है । वापी को सोपानयुक्त कूप बताया गया है जिसका मुख 50 से 100 हस्त तक कहा गया है ।

1· अखातं देवखाते स्यात् ।
वैजयन्ती, सम्पादित द्वारा गुस्ताव आपर्ट, मद्रास, 1892, पृ० 154, पंक्ति 10·

2· ते त्वगाधजला ह्रदा । वही, पृ० 154, पंक्ति 9·

3· पुष्करिण्यां तु खातकम् ।
वही, पृ० 154, पंक्ति 10; अमरकोश भी ।

4· काणे, हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्द 2, भाग-2, पृ० 893·

दो ओर, तीन ओर,
इसमें अन्दर एक ओर, या चारों ओर सीढ़ियाँ (सोपान) होती हैं। पुष्करिणी को 100 से 200 हस्त व्यास का बताया गया है। तड़ाग के लिये 200 से 800 हस्त तक व्यास बताया गया है। पर वसिष्ठ-संहिता को रघुनन्दन (16वीं शताब्दी) ने उद्धृत किया है, जिसमें पुष्करिणी 400 हस्त तक के व्यास वाली और तड़ाग को उसका पाँच गुना बताया गया है[1]।

मतैक्य न होने के बावजूद इतना स्पष्ट है कि आगे चलकर मध्यकाल में जलाशयों के स्वरूप के सम्बन्ध में अधिक परिशुद्धता लाने का प्रयास किया गया। इस प्रकार उनकी ओर विशेष ध्यान दिया गया, जो उस काल में उनके और अधिक प्रचलन का साक्ष्य माना जा सकता है।

तालाबों और जलाशयों को पंक से निर्मुक्त कराना

तालाबों और जलाशयों में पंक एकत्रित हो जाने (*silting*) के कारण उनकी सिंचाई आदि के लिये कार्यक्षमता में बाधा उत्पन्न होती थी। पूर्व-मध्यकाल में इन्हें पंक से निर्मुक्त कराना एक महत्त्वपूर्ण कार्य माना जाता था। परमारों के काल में धनपाल (10वीं-11वीं शताब्दी) द्वारा रचित तिलकमञ्जरी नामक ग्रन्थ में वापियों एवं कूपों का पंक निकालने का उल्लेख मिलता है[2]। विक्रम सं0 1251 (1194 ई0) के ग्वालियर तड़ाग लेख का उद्देश्य ही अजयपालदेव

---

1. वही, पृ0 893, फुटनोट 2078.

1. गंगा प्रसाद यादव, धनपाल ऐण्ड हिज टाइम्स, पृ0 73, 90 (पादटिप्पणी 297).

नामक नरेश द्वारा उस तड़ाग को पंक से निर्मुक्त कराने का उल्लेख करना था[1]। समय-समय पर पंक निकाल देने से जलाशयों और तालाबों की सिंचाई आदि के लिये कार्यक्षमता एवं उपयोगिता में ह्रास रोका जा सकता था।

14वीं शती के पूर्वार्द्ध में लिखे गये ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्य कृत वर्णरत्नाकर[2] के पोखरा-वर्णना में भी .. "कादव" (कर्दम या पंक), "सेमार" (शैवाल) आदि से विवर्जित होना पोखरा का वांछित गुण माना गया है। दक्षिण भारत के कुछ चोल काल के अभिलेखों से पता चलता है कि तड़ागों की सफाई का बड़ा ध्यान रखा जाता था और इसके लिये विशेष व्यवस्था की जाती थी[3]। उपर्युक्त साक्ष्यों से यह संकेत मिलता है कि उत्तर भारत में भी यह प्रवृत्ति काफी हद तक प्रचलित रही होगी।

---

1. तडागोऽपि निर्मुक्तः पङ्क--सं (२)
.. कथा ...... । ई०आई०, जिल्द 38, पृ० 134.

2. वर्णरत्नाकर, सम्पादक प्रो० आनन्द मिश्र एवं पंडित गोविन्द झा, मैथिली अकादमी, पटना, 1980, पृ० 59.

3. द्रष्टव्य नीलकान्त शास्त्री, दि चोलज़, मद्रास, 1975, पृ० 583. चोल काल में ग्राम-सभाएँ प्रति वर्ष वर्षा-काल के पहले अपने ग्रामों के तड़ागों का पङ्क निकलवाती थीं।

नहरें

अमरकोश में ﴾1·10·34﴿ में कुल्या शब्द छोटी कृत्रिम नदी ﴾कुल्याल्पा कृत्रिमा सरित्﴿ के लिये प्रयुक्त हुआ है । यह नहर रही होगी । प्राकृत में कुल्ला शब्द कृत्रिम नदी के लिये मिलता है[1] । इससे भी नहर का बोध होता है । हेमचन्द्र ﴾12वीं शताब्दी ﴿ के कुमारपालचरित ﴾ 2·79﴿ में यह शब्द जल की नाली या सारणी[2] के लिये प्रयुक्त हुआ है। पुष्कराक्षगणि के अनुसार कुल्ला कृत्रिम जलमार्ग था ﴾ कुमारपालचरित,3·46 पर﴿ । अर्थशास्त्र पर भट्टस्वामी ﴾12वीं श0﴿ की टीका से स्पष्ट ज्ञात होता है कि कुल्या को सारणी भी कहते थे[3] । सारणी शब्द जलमार्ग के लिये क्षेमेन्द्र ﴾11वीं शताब्दी﴿ के बालरामायण[4] में भी प्रयुक्त हुआ है । हेमचन्द्र ﴾12वीं शताब्दी﴿ के परिशिष्टपर्वन्[5] में भी सारणी शब्द नदी अथवा जलमार्ग के लिये मिलता है ।अपराजितपृच्छा ﴾पृष्ठ 188, श्लोक 36﴿ में सारणी शब्द स्पष्टरूप से कृत्रिम जलमार्ग के लिये आता है ।

1· पाइयसद्दमहण्णओ, पृ0 256·

2· अलाबूनां सेकाय कुल्याः सारणयः कृताः । कुमारपालचरित, पृ0 22,श्लोक 41 पर पुष्कराक्षगणि की टीका ।

3· कुल्यावापानांच सारणिपेयतोयानां- जे0बी0ओ0आर0एस0, जिल्द 12, खण्ड 2,पृ0 135·

महेश्वरसूरि के विश्वप्रकाशकोश ﴾पृ0 53,श्लोक 78﴿ में सारणी को स्वल्प-सरित्﴾सारणी स्वल्पसरिते﴿ कहा गया है । पर यह पतली जल-प्रणाली भी होती थी ।

4· मोनियर विलियम्स की संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी,पृ0 1208,स्तम्भ ।

5· वही

कुल्या शब्द कृत्रिम जलमार्ग अथवा नहर के लिये <ins>अर्थशास्त्र</ins> (2·24·5) में भी मिलता है। पर पूर्व मध्यकाल के ग्रन्थों में सारणि अथवा सारणी शब्द का प्रयोग कुल्या के समानार्थक के रूप में भी होने लगा। कुल्या के इस अर्थ में प्राकृत शब्द कुल्ला का प्रयोग भी पूर्वमध्यकाल के ही कुछ ग्रन्थों में सबसे पहले मिलता है। इस प्रकार नहर के लिये कई शब्दों का प्रचलन इस बात का सूचक हो सकता है कि इस काल में नहरों का अपेक्षाकृत अधिक निर्माण एवं उपयोग होने लगा।

<ins>काश्यपीय कृषिसूक्ति</ins> (श्लोक 111-112) में कुल्या (नहर) के चार प्रकार उनके स्रोत के आधार पर बताये गये हैं --

(1) नदी से निकाली जाने वाली कुल्या (नदीमातृका)।

(2) झील से निकाली जाने वाली कुल्या (ह्रदाश्रिता)।

(3) जलाशय से निकाली जाने वाली कुल्या (जलाशयाश्रिता)।

(4) पर्वत के ढाल से निकाली जाने वाली कुल्या (महीध्रभृगुपार्श्वभाक्)।

पर्वत के ढाल से निकाली जाने वाली कुल्या छोटी नदी या झरने से निकाली जाती थी (गिरिप्रस्रवणारब्धम्, श्लोक 123)।

कुल्या (नहर) की चौड़ाई 4, 5, 6, 7 या 10 हस्त[1] (श्लोक 119) की बताई गई है। नाना शाखाओं से युक्त दृढ़ तट वाली कुल्या और उससे

---

1. एक हस्त $1\frac{1}{2}$ फीट के बराबर माना गया है।

सम्बन्धित महाकुल्या का भी विधान किया गया है (श्लोक 107-108) ।
क्षुद्र कुल्या (श्लोक 166) तथा कुल्यका (श्लोक 159) शब्दों का प्रयोग छोटी जल-प्रणालियों के लिये किया गया है जिन्हें सस्य-क्षेत्र तक ले जाते थे ।

इस ग्रन्थ में नहर बनाने की विधि पर भी प्रकाश डाला गया है । उदाहरण के लिये यह मिलता है कि कुल्या का उद्गम-स्थान कृषि-भूमि से ऊँचे धरातल पर बनाया जाना चाहिए (श्लोक 112-114) । विशेष रूप से सस्य-वृद्धि के लिये राजा द्वारा जलाशय-विहीन ग्रामों, पुरों तथा अन्य स्थलों के लिये कुल्या-निर्माण कराने का उपदेश किया गया है (श्लोक 135, 136) ।

काश्यपीयकृषिसूक्ति की रचना मध्यकाल में हुई होगी । अतः इस ग्रन्थ में परिलक्षित पूरी स्थिति पूर्व मध्यकाल की नहीं हो सकती । फिर भी, जैसा कि अन्य स्रोतों से ज्ञात होता है, पूर्व मध्यकाल में भी नहरों की पद्धति का काफी विकास हो गया था। इस ग्रन्थ में पूर्व मध्यकाल और प्राचीन काल की भी कुछ परम्पराएँ संग्रहीत लगती हैं । उदाहरणार्थ, नहर के लिये कुल्या शब्द का प्रयोग कौटिलीय अर्थशास्त्र (2·24·5) में भी मिलता है ।

कश्मीर में, राजतरंगिणी के अनुसार, सुय्य नामक एक इन्जीनियर ने अवन्तिवर्मन् के काल (855/56-883 ई0) में नहरों द्वारा सिंचाई की व्यवस्था बनायी थी । उसने विभिन्न वर्गों की भूमि का परीक्षण किया तथा वहाँ के ग्रामों के लिये नदी का पानी उपलब्ध कराया[1] । स्पष्ट है उसने नदीमातृका

1· राजतरंगिणी, 5·109,

कुल्याओं (नहरों) का निर्माण कराया होगा । इस प्रकार कश्मीर के अनेक ग्रामों में कृषि की केवल वर्षा के जल पर निर्भरता समाप्त हो गई[1] । इससे कृषि का विस्तार हुआ तथा सस्य-उत्पादन की अभूतपूर्व वृद्धि हुई । कल्हण के अनुसार, कृषि-उत्पादन के इस अतिरेक के कारण एक खारी चावल का मूल्य 200 दीनार से घटकर 36 दीनार हो गया[2] । कल्हण ने सुय्य के इस लोकोपकारी कार्य की विशेष प्रशंसा की है[3] ।

ए0के0 मिश्रा[4] महोदय ने एक चन्देल अभिलेख में आने वाले "नालता" शब्द का अर्थ नहर बताया है । पर यह मत सन्दिग्ध लगता है, क्योंकि मङ्खकोष[5] में नाल या नालता शब्द का प्रयोग "अब्जादिकाण्ड" (कमल आदि के काण्ड) एवं "जल-निर्गम" के अर्थ में बताया गया है । अतः चन्देल अभिलेख में नालता शब्द जल-निर्गम-मार्ग के लिये ही प्रयुक्त लगता है । वास्तव में एक अन्य चन्देल अभिलेख[6] में "कुल्या" शब्द ही जलप्रणाली अथवा नहर के अर्थ में मिलता है ।

---

1. वही, 5.109.
2. वही, 5.116-117.
3. वही, 5.113
4. अर्ली रूलर्स आफ खजुराहो, पृ0 180.
5. नालताब्जादिकाण्डे त्रिषु स्याज्जलनिर्गमे । मङ्खकोश, श्लोक 815 .
6. ई0आई0, जिल्द 1.

विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित सिंचाई के साधनों के प्रति जागरूकता

जैन ग्रन्थ बृहत्कल्प-भाष्य[1] में विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित सिंचाई के साधनों के प्रति जागरूकता के प्रमाण मिलते हैं। इसके अनुसार विभिन्न क्षेत्रों में सिंचाई के विभिन्न साधन प्रचलित थे। उदाहरण देते हुये यह बताया गया है कि लाट देश में वर्षा के पानी से, सिन्धु देश में नदियों से, द्रविड क्षेत्र में जलाशयों से, उत्तरापक्ष में कुओं से, तथा डिम्भरेलक्ष ? में बाढ़ के पानी से सिंचाई होती थी। स्पष्ट है कि यह वर्णन सामान्यीकृत एवं अपूर्ण है। पर इससे कुछ क्षेत्रों में प्रचलित सिंचाई के मुख्य साधनों पर थोड़ा प्रकाश पड़ता है, और साथ ही यह ज्ञात होता है कि इन साधनों की ओर धर्माचार्यों का ध्यान भी आकर्षित होने लगा।

पानी ऊपर निकालने की मुख्य विधियाँ

बुद्धघोष (5वीं शताब्दी) की समन्तपासादिका[2] में पानी निकालने की तीन विधियाँ बताई गई हैं--

तुल, करकटक और अरहट्टघटियन्तं (अरघट्टघटीयन्त्र)। "तुल" वणिक की तराजू की भाँति पानी निकालने के लिये था। करकटक गड़ारी थी, जिस पर दो हाथ के द्वारा या बैल जोतकर लम्बी रस्सी से पानी निकालते थे।

---

1. बृहत्कल्पभाष्य, मलयगिरि एवं क्षेमकीर्ति, भावनगर (1933-38), 1.1239.
   उद्धृत द्वारा सरिता कुमारी, रोल आफ स्टेट इन ऐशेंट इण्डियन इकॉनॉमि, नई दिल्ली, 1986, पृ0 85.
2. समन्तपासादिका (सामान्दा संस्करण), जिल्द 3, पृ0 1290, पंक्ति 7.

बुद्धघोष के अनुसार तुल और करघटक दोनों विधियों में पानी ऊपर निकालने के लिये चमड़े के थैले (चम्मभाजनं) का भी प्रयोग किया जाता था । पर गड़ारी के ऊपर से बैल जोतकर चमड़े के थैले से पानी निकालने की प्रथा उत्तरी भारत के मैदानी क्षेत्र में अधिक प्रचलित रहे होंगे ।

कूपतुला

हेमचन्द्र की देशीनाममाला में आगत्ती[1], उक्कंती[2], उक्कंन्दी[3], उक्का[4], णेलिच्छी[5], वड्डिआ[6], एवं ढेंका[7] शब्द कूपतुला (कूपतुला) के लिये दिये गये हैं । ये पानी उठाने वाले यंत्र के विभिन्न नाम हो सकते हैं, जो विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित थे । पर यह भी हो सकता है कि ये एक ही कोटि के यंत्र के विभिन्न प्रकार रहे हों । इस ग्रंथ के सम्पादक आर०पिशेल[8] के अनुसार कूप-तुला एक प्रकार का यन्त्र था जिसमें एक क्षैतिज बल्ली, जिसके एक किनारे से घड़ा या बरतन लटकता था, एक उध्वाधर (सीधे खड़े) खम्भे पर ऊपर नीचे ले जाई जाती थी, और इस प्रकार

1· देशीनाममाला, आर० पिशेल द्वारा सम्पादित, 1·63·

2;3 एवं 4 वही, 1·87.

5· वही, 4.44.

6· वही, 7.36.

7· वही, 4·17·

8· वही, ग्लॉसरी, पृ० 7-8·

पानी कुयें से बाहर निकाला जाता था । बुद्धघोस (5वीं शताब्दी) की समन्तपासादिका में इस पद्धति को "तुल"[1] कहा गया क्योंकि इसमें सीधे खड़े खम्भे पर तुला की भाँति एक लम्बी क्षैतिज लकड़ी की बल्ली के एक सिरे के नीचे जाने और दूसरे के ऊपर आने के क्रम में पानी निकाला जाता था । बाद को ढेकुलि के नाम से प्रसिद्ध परम्परा से ज्ञात होता है कि लम्बी क्षैतिज लकड़ी की बल्ली के एक किनारे पानी ऊपर निकालने के लिये बरतन या थैला रस्सी से बँधा रहता था, और दूसरे सिरे पर बड़ा भार या पत्थर बँधा रहता था । इस प्रकार एक सिरे के ऊपर और दूसरे के नीचे ले जाने के द्वारा पानी ऊपर निकाला जाता था ।

यद्यपि कूपतुला के लिये कई शब्दों का प्रयोग होता था, ढेका या ढेकुला शब्द का व्यवहार इसके लिये अधिक किया जाता था । देशीनाममाला (4·17) में ढेंका शब्द का अर्थ कूपतुला बताया गया है । पाइयसद्दमहण्णवो (पृ० 375) में इसी अर्थ में ढेकुआ और ढेंकली शब्दों का उल्लेख किया गया है । पानी ऊपर निकालने के लिये इसका प्रयोग राजस्थान, गुजरात, मालवा तथा अन्य क्षेत्रों में भी किया जाता था । मारवाड़ से प्राप्त एक अभिलेख (वि०सं० 1394)[2] से ज्ञात होता है कि एक राउत ने अपनी स्त्री के साथ एक मन्दिर को

1· समन्तपासादिका (नालन्दा संस्करण), जिल्द 3, पृष्ठ 1290, पंक्ति 7·

2· ई०आई०, जिल्द 11, पृ० 63, पंक्ति 6—
ढेकुयउ वा (डी) सहितः प्रदत्तः ।

ढेकुयउ का दान किया था । इस अभिलेख के सम्पादक डी०आर० भण्डारकर महोदय ने ढेकुयउ के बाद आने वाले शब्द का "वाडी" पाठ मानकर उसे उद्यान के साथ दिये जाने का अनुमान लगाया है । पर यह शब्द वापी भी हो सकता है । ढेकुआ का बड़े पैमाने पर प्रचलन रहा होगा । इसका प्रमाण यह है कि विष्णुषेण के संवत् 649 (592 ई०) के पश्चिमी भारत के अभिलेख[1] में ढेकु-कड्ढक शब्द मिलता है जो ढेकुआ चलाकर पानी निकालने वाले व्यक्ति के लिये प्रयुक्त लगता है[2]। ढेकु वही लगता है जो गुजराती में ढीक्वों और हिन्दी में ढेकली अथवा ढेकुल है[3]।

मारवाड़ क्षेत्र के नाडोल के चाहमानों के 11वीं-12वीं शताब्दी के कुछ अभिलेखों में "ढिकु" और "अरघट्ट", दोनों का उल्लेख मिलता है । इससे बी०डी० चट्टोपाध्याय[4] के अनुसार दो प्रकार के कुओं का होना प्रतीत होता है । अरहट्ट-युक्त कुयें बड़े और अधिक रहे होंगे । उन्होंने एक उद्धरण दिया

---

1. वही, जिल्द 30, सं० 30.

2-3. वही, पृ० 172, अभिलेख के संपादक डी०सी० सरकार के अनुसार ढेकु पानी निकालने के लिये एक यन्त्र था जो उत्तोलक (lever) के सिद्धान्त पर आधारित था (वही पृ० 172) ।

4. बी०डी०चट्टोपाध्याय, "विलेजेस, वेल्स ऐण्ड टैंकर्स इन साउथ ईस्टर्न मारवाड़ ...." राजस्थान स्टडीज कान्फरेंस (दिसम्बर 14-17, 1987), जयपुर, में प्रस्तुत शोध-लेख, पृ० 7-8.

है, जिसके अनुसार ढिकु से अरघट्ट द्वारा सींची जाने वाली भूमि की आधी भूमि सींची जा सकती थी[1]। व्यक्तियों तथा मन्दिरों के ढिकुओं का अभिलेखीय साक्ष्य प्राप्त होता है। एक ढिकु का नाम "रणलढिकु" मिलता है: ये ढिकु ढेकुआ लगे हुये कुएँ रहे होंगे।

चर्मकोश (मोट) द्वारा पानी खींचना

दक्षिण राजस्थान में प्रतीहार नरेश महेन्द्रपाल द्वितीय के काल के प्रतापगढ़ से प्राप्त एक अभिलेख (वि0सं0 1003/946ई0) से ज्ञात होता है कि देवराज नामक व्यक्ति ने एक खेत का दान किया, जो एक चमड़े के थैले द्वारा सींचा जा सकता था (कोसवाह)[2]। चमड़े के थैले से बैलों द्वारा कुयें से जल खींचने की प्रथा आधुनिक काल तक उत्तरी भारत में व्यापक रूप से प्रचलित रही है। सामान्य कृषक उस काल में भी चमड़े से बने थैले से बैलों द्वारा कुओं से सिंचाई हेतु जल खींचते रहे होंगे। 16वीं शताब्दी में बाबर[3] ने आगरा, चन्दवार, बियाना आदि में जिस सिंचाई की पद्धति को देखा था वह यही पद्धति थी। इसे आजकल पुर या पुरवट कहते हैं। इसमें बैलों को जोतकर मोटे रस्से द्वारा घिरनी के ऊपर से चमड़े के बड़े थैले (मोट) में कुयें से पानी ऊपर खींचा जाता है।

---

1. वही।
2. ई0आई0 14, पृ0 182, इस अभिलेख के संपादक गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा ने कोसवाह का यह ठीक अर्थ दिया है। जैन साहित्य में चम्मकोस श आता है। पाइयसद्दमहण्णओ, पृ0 319. यहाँ कोस शब्द चर्म्मकोश के लिए ही प्रयुक्त किया गया लगता है।

टोकरी से दो व्यक्तियों द्वारा पानी ऊपर निकालना

जहाँ प्राकृतिक सतहें (levels) पानी के प्रवाह के लिये बाधा उत्पन्न करती थीं या जहाँ कम गहराई से तड़ाग आदि का पानी ऊपर उठाया जाता था वहाँ सामान्य रूप से ढेकुली अथवा टोकरियों के प्रयोग के साक्ष्य पूर्व मध्यकाल में दक्षिण भारत से उपलब्ध होते है[1] । इस काल में उत्तर भारत में भी हम ढेकुली के प्रयोग के साक्ष्य पाते हैं । इसके अतिरिक्त इस कार्य के लिये टोकरियों का प्रयोग भी प्रचलित रहा होगा । यह प्रथा आधुनिक काल में भी प्रचलित रही है । अवधी भाषा में "बेड़ी" और "दुगला" शब्द टोकरी द्वारा पानी ऊपर निकालने के सन्दर्भ में ही प्रयुक्त होते हैं[2] । बेड़ी बाँस की वह टोकरी होती है जिसमें चार रस्सियाँ बँधी होती हैं[3] । इससे आमने-सामने खड़े होकर दो व्यक्ति, जिनमें से प्रत्येक दो रस्सियाँ पकड़ता है, उस टोकरी द्वारा सिंचाई के लिये पानी नीचे से ऊपर फेंकते हैं ।

---

1. के०ए० नीलकान्त शास्त्री, दि चोलस, मद्रास यूनीवर्सिटी, 1973, पृ० 583.
2. हरदेव बाहरी, अवधी शब्द-सम्पदा, स्मृति प्रकाशन, इलाहाबाद 1982, पृ० 229 (स्तम्भ 2); हरिहर प्रसाद गुप्त, ग्रामोद्योग और उनकी शब्दावली (उत्तर प्रदेश के आजमगढ़ जिले के एक क्षेत्र के सम्बन्ध में), राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, 1956, पृ० 235.
3. हरिहर प्रसाद गुप्त, वही, उसी पृष्ठ पर;
   मानक हिन्दी शब्द कोश, खण्ड 4, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग, 1965, पृ० 160. प्राकृत में बेडा और बेडी शब्द नौका के लिये मिलते हैं । अर्थविस्तार के क्रम में "बेड़ी" का अर्थ पानी ऊपर निकालने वाली टोकरी भी हो गया होगा ।

अरघट्ट या अरहट्ट

अरघट्ट का उल्लेख अर्थशास्त्र में नहीं मिलता । अमरकोश में भी इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं है। इसका एक प्रारम्भिक उल्लेख जिसे हम एक काल से सम्बन्धित कर सकते हैं, बुद्धघोस की समन्तपासादिका में मिलता है, जो विनय-पिटक के चुल्लवग्ग खण्ड पर टीका है । इसकी रचना 5वीं शताब्दी में हुई थी । इसमें चुल्लवग्ग में प्रयुक्त "चक्कवट्टक" शब्द को "अरहट्टघटियियन्त" (अरहट्टघटीयन्त्र) बताकर समझाया गया है[1]। इस प्रकार अरहट्टघटीयन्त्र का प्रचलन 5वीं शताब्दी के कुछ पहले प्रारम्भ हुआ होगा । पूर्व मध्यकाल के ग्रन्थों एवं अभिलेखों में इसके अनेक उल्लेख मिलते हैं। इसके लिये कई शब्द[2] भी मिलते हैं । गुप्तकाल तथा पूर्व मध्यकाल में घटीयन्त्र या अरघट्ट की लोकप्रियता बढ़ती गई । इसका प्रमाण यह है कि इस समय के ग्रन्थों में हम "कूपयन्त्रघटिकान्याय"[3]

1· समन्तपासादिका (नालन्दा संस्करण), जिल्द 3, पृ0 1290 ·

2· जलघटीयन्त्र (बाण की कादम्बरी, सम्पादक एम0आर0काले,पृ0 85); घटीयन्त्रक (वही, पृ0 322); अरहट्ट (गौडवहो—वाक्पतिराज-रचित, सम्पादक एन0जी0सूरू, अहमदाबाद, 1975,पृ0 103,श्लोक 685); घटीयन्त्र (ब्रह्मसूत्र,2·2·19 पर शंकरभाष्य); अरघट्ट (सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपञ्चाकथा,पृ0 984-86—उपमितिभवप्रपञ्चाकथा में अरघट्ट (सम्पूर्ण यन्त्र) और घटीयन्त्र (केवल घटीयुक्त चक्र) का अन्तर भी बताया गया है, लल्लनजी गोपाल,ऊपर उद्धृत,पृ0 134); रहट्ट (पुष्पदन्त का महापुराण, 27·1·2);अरघट्टक (हलायुधरचित अभिधानरत्नमाला,3·685) ।
अरघट्ट इत्यादि में "अर" का तात्पर्य चक्र के आरों से है ।धनपाल की पाइअलच्छीनाममाला (10वीं शताब्दी) में अरहट्ट एवं घटीयन्त्र (घडिजन्तं) को समानार्थक माना गया है— वही, 314.

3· मृच्छकटिक,10·60·

"घटीयन्त्रन्याय"[2]

"अरघट्टीयन्त्रन्याय"[1], आदि उपमाओं का प्रयोग व्याख्या एवं विवेचन के सन्दर्भ में पाने लगते हैं ।

अरहट्ट या अरघट्ट की उत्पत्ति एवं स्वरूप तथा भारत में प्रारम्भिक प्रचलन के सम्बन्ध में बड़ा विवाद है । ए०एल० बाशम ने ठीक कहा है कि बैलों द्वारा खींची जाने वाली पर्शियन व्हील का उल्लेख (भारत के) प्रारम्भिक स्रोतों में नहीं मिलता, यद्यपि इसके प्रचलन की संभावना हो सकती है । दशरथ शर्मा[4] एवं आर० नाथ[5] के अनुसार तथाकथित पार्शियन व्हील की जानकारी प्राचीन भारत में क्रमशः ईसवी सन् के प्रारम्भ के काल तथा गुप्त काल में थी । लल्लन जी गोपाल[6] के अनुसार, अरघट्ट नामक यन्त्र का प्रचलन भारत में चतुर्थ शताब्दी या कुछ पहले के काल में हुआ होगा ।

---

1. उपमितिभवप्रपञ्चाकथा, पृ० 52,418.
(यह नवीं शताब्दी के प्रारम्भ का ग्रन्थ है) ।
2. दार्शनिक सुरेश्वर के वार्तिकों में, लौकिकन्यायाञ्जलिः, सम्पादक जी०ए० जैकब, दिल्ली 1983, द्वितीय भाग, पृ० 26.
3. दि वण्डर दैट वाज इण्डिया, तृतीय संशोधित संस्करण, लन्दन, 1967, पृ० 194.
4. अध्यक्षीय भाषण, ऐंशेंट इण्डिया सेक्शन, प्रोसीडिंग्स ऑफ दि इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, पटियाला (सेशन 29), 1967, पृ० 41.
5. जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसायटी, जिल्द 12, नं० 1-4, पृ० 84.
6. ऐस्पेक्टस ऑफ हिस्ट्री ऑफ ऐग्रिकल्चर इन ऐंशेंट इण्डिया, भारती प्रकाशन, वाराणसी, 1980, पृ० 165.

इरफान हबीब ने यह मत व्यक्त किया है कि साकिया या पर्शियन व्हील का प्रचलन भारत में अरब प्रभाव के कारण तुर्की विजय तथा 13वीं-14वीं शताब्दी के काल में हुआ[1]। उनके अनुसार प्राचीन काल तथा पूर्व मध्यकाल के स्रोतों में मिलने वाला अरघट्ट शब्द नोरिया था। यह चक्राकार होता था जिसके बाहरी किनारे पर पानी नीचे से ऊपर लाने के लिये मिट्टी के घड़े बाँध दिये जाते थे। यह नदी से या भूमि की सतह के पास के पानी को ऊपर लाने के लिये प्रयुक्त होता था। इसमें आरे लगे रहते थे और इसे एक या दो व्यक्ति घुमाकर चलाते थे। इस प्रकार पानी ऊपर आता था।

इरफान हबीब के अनुसार भारत में पर्शियन व्हील का सर्वप्रथम वर्णन बाबरनामा[2] में मिलता है। इसमें लकड़ी की पट्टियाँ दो रस्सों के बीच बाँध दी जाती थीं। फिर उन पट्टियों से घड़े बाँध दिये जाते थे, तब रस्सों के दोनों वृत्तों को कुयें की व्हील (चक्के) पर डाल दिया जाता था, और वे नीचे तक चले जाते थे। फिर चक्के को धुरी से एक दूसरा दाँतों वाला चक्र (gear) जोड़ा जाता था और उस दूसरे के समीप एक अन्य दाँतेदार चक्र सीधी धुरी पर रहता था। इस अन्तिम चक्र को बैल गोलाई में खींचते हुये घुमाते थे और उसके दाँत दूसरे चक्र के दाँत को पकड़ लेते थे। इस प्रकार घड़ों के साथ

---

1. प्रेसीडेंशल ऐड्रेस, मेडीवल इण्डिया सेक्शन, (31वाँ सेशन-वाराणसी, 1969), पृ0 152 और आगे।
2. बाबरनामा, अनुवादक ए0एस0 बीवरिज, लंदन, 1921, जिल्द 2, पृ0 486 और आगे।

कुएँ पर लगा चक्का घूमता था। जहाँ घड़ों से पानी गिरता था वहाँ एक द्रोणिका लगा ~~दिया~~ दी जाती था और इससे पानी हर जगह ले जाया जाता था। लाहौर, दिपालपुर आदि में बाबर ने इसे देखा था।

लल्लनजी गोपाल[1] ने सिद्धर्षि की उपमितिभवप्रपञ्चाकथा (906 ई०) के साक्ष्य के आधार पर यह मत व्यक्त किया गया है कि इस ग्रन्थ में बैलों द्वारा अरहट्ट खींचने तथा इस प्रकार सिंचाई के लिये कुएँ के जल को ऊपर लाने का उल्लेख है, और गियर-व्यवस्था का स्पष्ट उल्लेख न होने पर भी उसका होना इस सन्दर्भ में आने वाले "सततभ्रमे" (अनवरत घूमने) शब्द से स्पष्ट है। पर इरफान हबीब[2] महोदय का तर्क है कि इस साक्ष्य में अरघट्ट के सन्दर्भ में 16 बैलों और केवल दो तुम्बों का उल्लेख यह संकेत करता है कि वह केवल चमड़े का पुर या पुरवट था, जो गड़ारी (pully) पर खींचा जाता था। उनका निष्कर्ष है कि 12वीं शताब्दी तक के साक्ष्य मानव-श्रम द्वारा चालित घड़ों वाली घटिकावलय-माला की ही ओर संकेत करते हैं जिसमें गियरिंग नहीं थी[3]। उन्होंने[4] शिओलर (Schioler) के मत के आधार पर यह भी कहा है कि मन्दोर (12वीं शताब्दी के बाद का नहीं) की चित्रवल्लरी, जिसमें ए०के० कुमारस्वामी[5] आदि के अनुसार पर्शियन व्हील का साक्ष्य मिलता है, वास्तव में केवल हाथों द्वारा चालित होने वाले जल-चक्र (water-wheel) को चित्रित

---

1. लल्लन जी गोपाल, ऊपर उद्धृत, पृ० 135, 137.
2. अलीगढ़ जर्नल ऑफ ओरियन्टल स्टडीस, जिल्द 2, नं० 1-2, 1985, पृ० 200.
3. वही, पृ० 200.
4. वही, पृ० 200.

करती है, जिसमें गियर का कोई प्रमाण नहीं मिलता ।

दो बैलों द्वारा रहट्ट या अरहट्ट घुमाने का साक्ष्य

पुष्पदन्त के अपभ्रंश में लिखे महापुराण नामक जैन-ग्रन्थ में एक रूपक मिलता है, जो अरहट्ट या अरघट्ट के चलाने की पद्धति पर विशेष प्रकाश डालता है । पुष्पदन्त राष्ट्रकूटों के काल में थे और उन्होंने अपने इस ग्रन्थ की रचना 965ई0 में समाप्त किया । यह रूपक निम्नवत् है:--

"अत्यन्त सौम्य स्वभाव वाले और महारौद्र "शशि" {चन्द्रमा} और "रवि" {सूर्य} रूपी चंचल बलद्द {बैल} चल रहे हैं, घटीमाला {अरहट्ट} के सन्दर्भ में एक के बाद दूसरी संयोजित की हुई घंटिकाओं {घड़ों} की माला तथा आयु के सन्दर्भ में घटी {24 मिनट} के लगातार एक बाद दूसरे आने वाले काल खण्ड से आयुरूपी जल {णीरु} लगातार कम होता जा रहा है।"[1] इस प्रकार कालरहट्ट {काल रूपी रहट} के घूमने और आयुरूपी जल के अनवरत बहिर्गत होने की कल्पना की गई है ।

यहाँ अरहट्ट में लगी घड़ों की माला तथा दो बैलों द्वारा अरहट्ट के घुमाये जाने का स्पष्ट संकेत मिलता है । अभी तक केवल सिद्धर्षि की उपमिति-भवप्रपंचाकथा से ही बैलों द्वारा अरहट्ट चलाये जाने का साक्ष्य ज्ञात था, जिसे

---

1. अइ सोमसहाव महारउद्द
 संवल्लिय चल ससि रवि बलद्द ।
 किह वंचइ कालरहट्ट चारु
 घडिमालइ लंघिउं आउणीरु ।

महापुराण,27,1.1-2.

प्रो० लल्लन जी गोपाल प्रकाश में लाये थे । पर उस साक्ष्य में 16 बैलों द्वारा अरघट्ट या अरहट्ट चलाये जाने की बात मिलती है जो उसे अस्पष्ट बना देती है । इस दृष्टि से पुष्पदन्त के महापुराण का उपर्युक्त साक्ष्य महत्त्वपूर्ण लगता है ।

अब प्रश्न यह उत्पन्न होता है कि महापुराण के इस साक्ष्य में भी गियर वाले चक्र का उल्लेख नहीं है । पर दो बैलों द्वारा इसके घुमाये जाने के उल्लेख से गियर वाले चक्र का अनुमान लगाया जा सकता है । यदि गियर न होता तो दो बैल उसे पानी ऊपर लाने के लिये कैसे घुमा सकते थे ? प्रो० इरफान हबीब[1] ने भी शिओलर के इस मत का समर्थन किया है कि साकिया के बैल, ऊँट या खच्चर द्वारा खींचे जाने के उल्लेख में गियरिंग का होना अन्तर्निहित रहता है । पानी निकालने के लिये पशु-शक्ति के नियोजन से अरहट्ट की कार्य-क्षमता एवं उसकी उपयोगिता बढ़ी होगी[2] । अरघट्ट या अरहट्ट को सामान्य रूप से घटीयन्त्र भी कहते थे ।

इस प्रकार पुष्पदन्त के महापुराण के साक्ष्य के आधार पर यह स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है कि भारत में गियरिंग से युक्त पशु-शक्ति -चालित अरहट्ट का प्रचलन 10वीं शताब्दी में, कम से कम राष्ट्रकूटों के राज्य में, रहा होगा । ऐसी स्थिति में बाबर के

---

1. अलीगढ़ जर्नल ऑफ ओरियंटल स्टडीज, जिल्द-2 (1985), नं० 1-2, पृ० 202.

2. वही, पृ० 203.

विवरण के साक्ष्य के आधार पर प्रो० हबीब[1] का मत कि भारत में गियरिंग 13-15वीं शताब्दियों में मेसोपोटामिया या ईरान से आई, पुनर्विचार योग्य है।

अरघट्ट का पुरुष द्वारा चालित होने का भी साक्ष्य

कुछ साक्ष्य यह स्पष्ट कर देते हैं कि अरघट्ट को पुरुष प्रेरित करके चलाता था, अर्थात् यह मानव-चालित भी था। इसका उल्लेख हमें पूर्व मध्यकाल के एक बौद्ध ग्रन्थ[2] में मिलता है।

जैनाचार्य सोमदेव के यशस्तिलक चम्पू से भी यह संकेत मिलता है कि घटीयन्त्र पुरुष चलाते थे। यहाँ यह कहा गया है कि पाप-पुण्य कर्मों का फल भोगने हेतु संसार रूपी घटीयन्त्र का संचालन जीव करता है[3]। हेमचन्द्र सूरि

---

1. वही, पृ० 202.
2. यथैकापि पदिका पुरुषप्रेरिता
   सकृदेकवारं सर्वमरघट्टं सच्छिल्पपूर्वपरिकर्मसामर्थ्याच्चलयति।

   x x x

   अरघट्टं यथैकापि पदिका पुरुषप्रेरिता।
   सकृत्सर्वं चलयति ज्ञानमेकक्षणे तथा।।

   मैत्रेयनाथ के अभिसमयालङ्कार एवं अष्टसाहस्रिकाप्रज्ञापारमिता पर हरिभद्र की अभिसमयालङ्कारालोक टीका: दि कमेंटरीज आन दि प्रज्ञापारमितास, जिल्द 1, सम्पादक तुची (Tucci), ओरियन्टल इंस्टिट्यूट, बड़ौदा, 1932, पृ० 518.
3. यशस्तिलक चम्पू, पूर्वखण्ड, संपादक एवं अनुवादक, सुन्दरलाल शास्त्री, वाराणसी, 1960, पृ० 155.

(12वीं शताब्दी)के कुमारपालचरित पर पूर्णकलशगणि की टीका में भी यह स्पष्ट रूप में मिलता है कि दक्ष पुरुष वेग के साथ कूपान्तर्वर्तियन्त्र अर्थात् अरघट्ट को चलाता था[1]। मन्दसोर की चित्रवल्लरी में भी संभवत: मानव-चलित अरघट्ट का चित्र मिलता है[2]। हलायुध की अभिधानरत्नमाला (3·685) तथा यादव-प्रकाश की वैजयन्ती (4·21) नामक कोशों में अरघट्ट को पादावर्त (पादावर्तो-ऽरघट्टक:) कहा गया है। मोनियर विलियम्स के अनुसार पादावर्त का अर्थ पानी ऊपर निकालने के लिये पैर से चलाये जाने वाला चक्र है[3]। पर उन्हीं के अनुसार "पाद" का अर्थ चक्र (wheel) भी होता है[4]। लल्लन जी गोपाल[5] पादावर्त का अर्थ पैर से चलाये जाने वाला चक्र नहीं मानते। पर यदि अरघट्ट को पुरुष प्रेरित करता था तो वह हाथ या पैर से ही चलाता रहा होगा।

पूर्णकलशगणि की टीका से ज्ञात होता है कि अरघट्ट चलाने के लिये एक प्रकार की दक्षता अपेक्षित थी[6]। इसके प्रसार से समाज में अरघट्ट चलाने वाले

1· वेगेन दक्षपुरुषप्रेरितकूपान्तर्वर्तियन्त्रवत् ।
हेमचन्द्र का कुमारपालचरित (पूर्णकलशगणि की टीका के साथ) सम्पादक एस0 पी0 पण्डित, भण्डारकर प्राच्य विद्या संशोधन मंदिर, पृष्ठ 124, श्लोक 29 पर टीका ।

2· द्रष्टव्य, ऊपर

3· ए संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, पृ0 618, स्तम्भ 1·

4· वही पृ0 617, स्तम्भ 2·

5· ऊपर उद्धृत, पृ0 144-45·

6· द्रष्टव्य, ऊपर ।

कर्मकरों का एक स्पष्ट प्रकार बन गया । आख्यानकमणिकोश (12वीं शताब्दी) में इन्हें अरहट्टियनर[1] कहा गया है । ये स्वयं अरहट्ट चलाते रहे होंगे अथवा पशु-शक्ति द्वारा चालित अरहट्ट में बैलों को हांकते रहे होंगे । 300 ई0 के लगभग लिखी गई तन्त्राख्यायिका में भी अरघट्टवाह: पुरुष: का उल्लेख मिलता है[2] । जैन ग्रन्थ कुमारपाल-प्रतिबोध[3] में "अरहट्टिय" शब्द अरहट्ट चलाने वाले के लिये प्रयुक्त हुआ है ।

काश्यपीयकृषिसूक्ति का घटीयन्त्र के सम्बन्ध में साक्ष्य

घटीयन्त्र अथवा अरघट्ट के सम्बन्ध में इस ग्रन्थ का साक्ष्य महत्त्वपूर्ण है । इससे भी इस उपर्युक्त निष्कर्ष की पुष्टि होती है कि एक प्रकार के अरघट्ट तो मानवचालित होते थे, तथा दूसरे प्रकार के पशु-शक्ति द्वारा चलाये जाते थे । काश्यपीय-कृषि-सूक्ति के अनुसार बैलों द्वारा चलाये जाने वाले घटीयन्त्र कार्यक्षमता की दृष्टि से उत्तम माने जाते थे, हाथी के हस्त से चलाये जाने वाले मध्यम कोटि के माने जाते थे, तथा मनुष्य द्वारा चालित होने वाले अधम कोटि के समझे जाते

1· द्रष्टव्य, बी0एन0एस0 यादव, एस0सी0एन0आई, पृ0 259.

2· तन्त्राख्यायिका, सम्पादित द्वारा जे0हर्टेल हर्वर्ड ओरियन्टल सिरीज़, जिल्द 14, पृ0 142-43; लल्लन जी गोपाल द्वारा उद्धृत, ऐस्पेक्ट्स ऑफ हिस्ट्री ऑफ ऐग्रिकल्चर इन ऐंशेंट इंडिया, पृ0 127·

3· पाइयसद्दमहण्णवो, पृ0 71, स्तम्भ 3·

थे । यद्यपि इस ग्रन्थ की रचना मध्य-काल में हुई, फिर भी इसमें पूर्व मध्यकाल की भी कुछ परम्पराएँ संग्रहीत हैं ।

अरहट्ट या अरघट्ट की प्रयोग-पद्धति

अरहट्ट या अरघट्ट का प्रयोग कुओं, जलाशयों और नदियों से पानी ऊपर उठाने के लिये किया जाता था । कुओं से जल निकालने का साक्ष्य ऊपर दिया जा चुका है । नदी से अरघट्ट द्वारा जल निकालने का स्पष्ट साक्ष्य कल्हण की <u>राजतरंगिणी</u> (4.191) में मिलता है । कल्हण के अनुसार कश्मीर नरेश ललितादित्य ने चक्रधर (आधुनिक तसकदर) नामक स्थान पर कई अरघट्टों के निर्माण के द्वारा वितस्ता नदी के जल को ले जाने तथा विभिन्न ग्रामों में उसके वितरण की व्यवस्था किया । इस प्रकार खुली सतह से भी पानी अरघट्ट द्वारा ऊपर खींचा जाता था । हो सकता है कि यह अरघट्ट नोरिया के रूप में रहा हो जिसमें घड़ों को रिम (बाहरी किनारे) से बाँधते थे और जिसे कम गहराई की खुली सतह से पानी ऊपर खींचने के लिये प्रयोग में लाते थे ।

---

1. घटीयन्त्रं तु विविधं वृषभैर्वाह्यमुत्तमम् ।
   दृढश्रृंखलिकायोगात् हस्तिहस्तादिभिः क्वचित् ।।
   वाह्यं तु तन्मध्यमं स्याद्धमं नरवाह्यकम् ।

   x x x

   <u>काश्यपीयकृषिसूक्ति</u>, सं० जी०वोटिलाा, ऐक्टा ओरियंटलिया, जिल्द 33 (2), बुडापेस्ट, 1979, पृ० 218, श्लोक 167-68 .

सिंचाई के कृत्रिम साधनों (जलाशयों, कूपों, तड़ागों, वापियों, सरों आदि) का निर्माण

पूर्व मध्यकाल में हम उत्तरी भारत में विभिन्न राजाओं, रानियों, राजकर्मचारियों, सामन्तों, सरदारों तथा अन्य विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा सिंचाई के कृत्रिम साधनों के निर्माण के प्रमाण पाते हैं ।

कश्मीर में हर्ष नामक नरेश ने पम्पासर (आधुनिक पम्बासर) का निर्माण कराया[1]। वहाँ ललितादित्य मुक्तापीड ने अरहट्टों तथा सुय्य नामक इंजीनियर ने नहरों एवं जल-सारणियों की भी योजनाओं का क्रियान्वयन किया था, जिसके सम्बन्ध में पीछे विचार किया जा चुका है ।

गुर्जर प्रतीहार काल के खुदाये हुये सोपान-बद्ध कुओं के अवशेष अब भी मन्दोर, आबानेर, ओसिअन आदि स्थानों पर मिलते हैं[2]।

इतिहासपरक ग्रन्थ पृथ्वी राज विजय के अनुसार चौहान नरेश अर्णोराज को अजमेर में अनासागर के निर्माण कराने का श्रेय है[3]। उसके उत्तराधिकारी

---

1. राजतरंगिणी, 7.940.
2. ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा, सोशल ऐण्ड कल्चरल हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ0 136, पादटिप्पणी 51.
3. पृथ्वीराजविजय, 6.21-25.

वीसलदेव के सम्बन्ध में उसी नगर में वीसलसागर निर्माण कराने की परम्परा मिलती है[1]। चौहानों की नाडोल शाखा के एक नरेश केल्हण तथा उसके एक सामन्त के पुत्र अजयसिंह ने कूपों का निर्माण कराया था[2]।

गुजरात के चौलुक्य नरेशों ने कुओं, वापियों एवं सरोवरों के निर्माण की ओर बड़ा ध्यान दिया। इस वंश के प्रथम नरेश मूलराज ने गोले और चौकोर कुओं एवं तड़ागों के निर्माण के लिये एक पदाधिकारी की नियुक्ति की थी[3]। भीम नामक नरेश की रानी ने राजधानी में एक बड़े तालाब तथा एक वापी (राणी की वाव) का निर्माण कराया था[4]। इसी वंश के कर्ण नामक नरेश ने एक बड़े तालाब कर्णसागर का निर्माण कराया[5]। कर्ण की रानी ने वीरमगाम में एक बड़े सरोवर का निर्माण कराया जिसे मानसार नाम दिया गया[6]। पर सबसे प्रसिद्ध सरोवर सहस्रलिङ्ग नामक था, जिसे जयसिंह सिद्धराज ने अणहिलपाटन

---

1. पृथ्वीराज रासो, आदिपर्व, छन्द 364.
2. डिन्नैस्टिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इण्डिया, भाग 2, पृ0 1119.
3. केल्हण के अभिलेख विक्रम संवत् 1221 से 1250 तक के प्राप्त हुये हैं। दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डिनेस्टीज, पृ0 137.
3. ए0के0मजूमदार, चौलुक्यस आफ गुजरात, पृ0 389.
4. वही, पृ0 340.
5. मेरुतुङ्ग का प्रबन्धचिन्तामणि, अनुवादक टॉनी, पृ0 78.
6. ए0के0 मजूमदार, पूर्वोद्धत, पृ0 390.

में बनवाया था[1]। पुरातत्त्व से इसके निर्माण-कौशल एवं पानी प्राप्त करने की कुल्याओं पर भी प्रकाश पड़ता है[2]। गुजरात में सोपान-मार्ग (सीढ़ियों से युक्त) वापियों की परम्परा का विशेष प्रचलन देखा गया है। इन वापियों को वहाँ वाव कहते हैं[3]।

मालवा के परमार शासकों ने भी कई सरोवरों का निर्माण कराया। वाक्पति द्वितीय (मुंज), भोज एवं उदयादित्य ने क्रमशः मुंजसागर, भोजसागर, एवं उदयसागर का निर्माण कराया[4]। भोज ने भोपाल के पास एक बड़ा सरोवर (भोजसर) सिंचाई के लिये बनवाया था[5]। एक अभिलेख[6] से संकेत मिलता है कि आबू के परमार नरेश की बहन लाहिणी रानी ने एक वापी का निर्माण कराया था। अमेरा अभिलेख से ज्ञात होता है कि नरवर्मन द्वारा नरेश के काल में भी एक तड़ाग का निर्माण कराया गया। महाकुमार हरिश्चन्द्र बावलियों, कुओं एवं तड़ागों

---

1. सरस्वती पुराण के अनुसार इस तरह का सर कहीं नहीं था; ए०के० मजूमदार, पूर्वोद्धृत, पृ० 390.
2. ए०एस०गाद्रे, आर्कियॉलोजी इन बड़ोदा, 1934-37, पृ० 8, उद्धृत द्वारा लल्लन जी गोपाल, यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद स्टडीस, 1963-64, पृ० 3, फुटनोट 16.
3. ए०के०मजूमदार, पूर्वोद्धृत, पृ० 390, मरकत-शिलाबद्ध-सोपान-मार्ग वापी का उल्लेख कालिदास के मेघदूत में भी आता है (उत्तरमेघ, श्लोक 82)।
4. प्रतिपाल भाटिया, दि परमारस्, मुंशीराम मनोहरलाल, नई दिल्ली 1970; पृ० 299-300; ब्रजेन्द्रनाथ शर्मा, सोशल ऐण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, पृ० 135.
5. स्मिथ, अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृ० 411; प्रतिपाल भाटिया, पूर्वोद्धृत पृ० 300.

के दान का उल्लेख एक अन्य अभिलेख मिलता है[1]। कुछ अभिलेखों में धीमड़ा (वापिका कुआँ) के भी उल्लेख मिलते हैं[2]।

अन्य विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा भी कूपों एवं तड़ागों के खुदवाने के उल्लेख परमार अभिलेखों में मिलते हैं। 1086 ई0 में जन्न नामक एक तेली पटेल ने विरिहिल्ल में उदयादित्य के शासन काल में एक तड़ाग खुदवाया[3]। एक अन्य अभिलेख से ज्ञात होता है कि भुण्डिपद्र ग्राम के ब्राह्मणों ने एक सोपान-बद्ध कुएँ का निर्माण करा कर ग्राम के लोगों के हेतु उसे उत्सर्ग कर दिया था[4]।

चन्देल शासकों ने अपने नाम पर कई सरोवरों का निर्माण कराया-- महोबा का राहिल्यसागर (राहिल द्वारा बनवाया गया), मदनसागर (3 मील के घेरे में मदनवर्मा द्वारा बनवाया गया), अजयगढ़ का सरोवर (परमर्दि द्वारा बनवाया गया), विजय सागर (4 मील के घेरे में - विजयपाल द्वारा निर्मित), तथा कल्याण सागर (सम्भवतः रानी कल्याणदेवी द्वारा बनवाया गया)[5]। एक खजुराहो अभिलेख में यशोवर्मन् की प्रशंसा एक मन्दिर एवं एक तड़ाग बनवाने के

---

1. प्रतिपाल भाटिया, पूर्वोद्धृत, पृ0 300.
2. वही, पूर्वोद्धृत, पृ0 300.
3. जर्नल आफ दि एसियाटिक सोसाइटी आॅफ बंगाल, 1914, पृ0 241.
4. जर्नल आफ दि बाम्बे ब्रांच आफ रायल एसियाटिक सोसाइटी, जिल्द 23, पृ0 78, पंक्ति 4.
5. एन0एस0 बोस, हिस्ट्री आफ दि चन्देलस्, के0एल0 मुखोपाध्याय, कलकत्ता, 1956, पृ0 147.

लिये की गई है[1] । खजुराहो के एक अन्य अभिलेख (10वीं शताब्दी)[2] में एक नदी के जल-प्रवाह को घुमाने के लिये तटबन्ध बनाने का भी उल्लेख मिलता है ।

वीरवर्मन की रानी कल्याणदेवी ने एक कूप, एक तालाब (कासार) और एक मण्डप भी बनवाया था[3] । मदनवर्मा के एक मन्त्री ने एक तड़ाग और मन्दिर बनवाया था[4] । एक अन्य अभिलेख में एक राउत द्वारा एक बावली बनवाने का उल्लेख मिलता है[5] ।

चन्देल नरेशों के कुछ ग्राम-दान-लेखों में ग्रामों की सीमायें बताने के सन्दर्भ में कूप (नाला), पुष्करिणी एवं भिटि (तटबन्ध) के उल्लेख मिलते हैं[6] ।

कलचुरि नरेशों के अभिलेखों से भी पता चलता है कि शासकों, सामन्तों एवं अन्य विशिष्ट व्यक्तियों ने सिंचाई, पानी पीने आदि के लिये जलाशयों का निर्माण कराया[7] । रीवा प्रस्तर लेख (कलचुरि सं0 944/1192 ई0) से ज्ञात होता है कि एक सामन्त मलयसिंह ने 1500 टंक व्यय करके एक बड़े तड़ाग एवं

---

1. ई0आई0 जिल्द 1, पृ0 144, श्लोक 58.
2. वही, पृ0 122, श्लोक 26.
3. वही, पृ0 328, श्लोक 18-20.
4. वही, पृ0 202, श्लोक 46-48.
5. आर्क्योलॉजिकल सर्वे रिपोर्ट, जिल्द 21, पृ0 49-50; एन0एस0बोस, पूर्वोद्धृत, पृ0 146.
6. द्रष्टव्य एस0के0 मित्रा, दि अर्ली रूलर्स आफ खजुराहो, पृ0 180.
7. तुलनीय, आर0के0 शर्मा, दि कलचुरिज ऐण्ड देअर टाइम्स, संदीप प्रकाशन, दिल्ली, 1980, पृ0 146.

बाँध का निर्माण कराया था[1]। रुद्रदेव द्वितीय के अकलतरा अभिलेख में मिलता है कि वल्लभराज ने वल्लभ सागर का निर्माण कराया[2]। कुछ अन्य अभिलेखों में भी शासकों एवं अन्य विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा तड़ाग-निर्माण के उल्लेख प्राप्त होते हैं[3]। सरोवरों, जो तड़ाग से बड़े होते थे, के शासकों एवं अन्य विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा निर्माण कराये जाने के भी कुछ अभिलेखों में उल्लेख मिलते हैं[4]। एक ... सामन्त राउत वल्लभदेवक ने एक "वह" (जल-सारिणी) का निर्माण कराया[5]।

तुम्मान कलचुरि सामन्त ब्रह्मदेव ने, तथा दो अमात्यों-पुरुषोत्तम एवं गंगाधर- ने क्रमशः 1163-64ई० [6], 1147-48 [7] एवं 1181-82 ई० [8] में तड़ागों एवं कूपों का निर्माण रायपुर -बिलासपुर क्षेत्र में कराया। कुओं का निर्माण कराये जाने के और भी साक्ष्य मिलते हैं[9]। बरार क्षेत्र में हेमाद्रिदेव के एक अमात्य द्वारा भी एक कूप तथा एक तड़ाग के निर्माण कराये जाने का उल्लेख मिलता है[10]।

1· का०इं०इं०, जिल्द 4, अभिलेख 67, श्लोक 37-41 ·

2· वही, अभिलेख 84 (श्लोक 24), 85 (श्लोक 20-21)·

3· वही, अभिलेख सं० 42, 77, 96, इत्यादि ·

4· वही, अभिलेख 77, 95, 98, इत्यादि ·

5· वही, अभिलेख 61, पंक्ति 6·

6· ई०आई०, जिल्द 26, पृ० 262·

7· वही, जिल्द 27, पृ० 283·

8· वही, जिल्द 11, पृ० 164·

9· वही, अभिलेख 42, 44·

10· ई०आई०, जिल्द 21, पृ० 132·

लक्ष्मणराज द्वितीय के एक प्रस्तर लेख में सामान्य कूपों तथा सोपानयुक्त कुओं का उल्लेख मिलता है[1]। एक और प्रस्तर लेख[2] में शैवाचार्य प्रबोधशिव द्वारा एक कुयें की मरम्मत कराने का भी उल्लेख मिलता है।

एक अभिलेख[3] में बिहार के गया जिले के एक स्थान पर रुद्रमान नामक नरेश के एक मंत्री द्वारा एक तड़ाग खुदवाने का उल्लेख मिलता है। सन्ध्याकर नन्दी के रामचरित से ज्ञात होता है बंगाल में रामपाल नरेश ने जलाशयों का निर्माण कराया[4]। धोई के पवनदूत में बंगाल के एक नरेश बल्लालसेन की स्मृति में एक तटबन्ध बनवाने का उल्लेख मिलता है[5]। एक भुवनेश्वर अभिलेख[6] से ज्ञात होता है कि हरिवर्मन् नरेश के एक मंत्री भट्ट भवदेव ने राढ में विष्णु मन्दिर के सामने एक तड़ाग बनवाया।

---

1. वही, अभिलेख 42, श्लोक 5.
2. वही, अभिलेख 44, श्लोक 17.
   एक जबलपुर प्रस्तर-लेख (1174-75 ई0) से पता चलता है कि एक शैवाचार्य ने तड़ाग खुदवाया, ई0आई0, जिल्द 21, पृ0 31। और आगे।
   12वीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के एक नालन्दा अभिलेख से पता चलता है कि एक बौद्धाचार्य ने तड़ाग का निर्माण कराया, ई0आई0, जिल्द 21, पृ0 90 और आगे।
3. ई0आई0, जिल्द 2, पृ0 338.
4. रामचरित, 3.42.
5. लल्लन जी गोपाल द्वारा उद्धृत, यूनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद स्टडीस, 1963-64, पृ0 5.
6. एन0जी0 मजूमदार, इंस्क्रिप्शन्स आफ बंगाल, जिल्द 3, पृ0 40.

भूमि के नीचे जलधाराओं को खोजने की विधियाँ

भूमि के नीचे की जलधाराओं को खोजने के कुछ प्रमाण बहुत प्राचीन काल में भी मिलते हैं[1]। पर उपलब्ध साक्ष्यों के अन्तर्गत वराहमिहिर की बृहत्संहिता में ही हमें इस विषय पर एक अलग अध्याय (53) मिलता है, जिसका शीर्षक "दकार्गल" है। इस अध्याय में भूमि के नीचे जल-शिराओं की अवधारणा मिलती है। इसमें वनस्पति - वेतस्, जम्बू, उदुम्बर, अर्जुन, बदरी, बिल्व आदि- तथा उसके समीप चींटियों की वल्मीक, साँप की बिल आदि होने के आधार पर भूमि के नीचे पानी होने का अनुमान लगाने की विधियों का वर्णन मिलता है। कूपों[2], वापियों[3], आदि को खुदवाने की दृष्टि से भूमि के नीचे के जल की जानकारी आवश्यक होती थी। काश्यपीयकृषिसूक्ति (श्लोक 47) में भी हम "दगार्गलप्रमाणज्ञा:"[4] का उल्लेख पाते हैं, जो भूमि के नीचे की जलधाराओं को खोजने में प्रवीण लोग होते थे। इस ग्रन्थ के अनुसार दगार्गल की विधि के ज्ञाता तथा कृषिविशारदों की सहायता से यह निश्चित किया जाता था कि कोई भूमि-विशेष कृषि, उद्यान, वन एवं जलाधार में से किसके योग्य है[5]।

1· अजयमित्र शास्त्री, पूर्वोद्धृत, पृ० 500·

2· बृहत्संहिता 53,97-98·

3· वही, 53·118-120

4· स्पष्ट है कि बृहत्संहिता के "दकार्गल" के लिये ही काश्यपीयकृषिसूक्ति में "दगार्गल" का प्रयोग हुआ है।

5· काश्यपीयकृषिसूक्ति, श्लोक 47,55,56·

बड़े बाँधों के प्रति दृष्टिकोण

मनुस्मृति (11.62) में महायन्त्रप्रवर्तन एक उपपातक माना गया है, जिसके लिये प्रायश्चित्त का विधान किया गया है। पर मनु के प्रथम भाष्यकार भारुचि (6ठीं-7वीं शताब्दी ई0) ने इसका अर्थ नहीं स्पष्ट किया है। 900 ई0 के आस-पास कश्मीर में मेधातिथि ने भी मनु पर भाष्य लिखा। इनके अनुसार "महायन्त्रप्रवर्तन" का अर्थ है जल-प्रवाह के नियमनार्थ बड़े-बड़े बाँधों का निर्माण करना।[1] मध्यकाल में मिथिला के कुल्लूकभट्ट[2] ने भी अपने मनुस्मृति के भाष्य में इसका अर्थ (नदी आदि के) प्रवाह को प्रतिबन्धित करने के लिये बड़े बाँध आदि बनवाना बताया है। मध्यकाल में ही कुल्लूकभट्ट के कुछ बाद राघवानन्द[3] ने अपने मनु-भाष्य में लिखा है कि इसका अर्थ अपनी भूमि आदि के लिये उदक-प्रतिबन्धक (पानी रोकने के लिये) सेतु (बाँध) का निर्माण करना है। राघवानन्द ने यह भी स्पष्ट किया है कि इससे अनेक जीवों के वध की सम्भावना रहती थी और इसीलिये इसे उपपातक के अन्तर्गत रखा गया है। पर मध्यकाल के दूसरे मनु के भाष्यकारों-- सर्वज्ञनारायण एवं नन्दन-- ने मनु के उसी श्लोक पर भाष्य करते हुये इसका अर्थ क्रमशः वराहादि बड़े जानवरों को मारने का यन्त्र एवं इक्षुयन्त्रादि बताया है।

---

1. यन्त्राणि सेतुबन्धादीनि जलप्रवाहनियमनार्थानि तेषां महतां प्रवर्तनम्।
   मनु0 पर मेधातिथि, 11.62.
2. महतां प्रवाहितबन्धहेतूनां सेतुबन्धादीनां प्रवर्तनम्।
   मनु0, 11.63 पर कुल्लूकभट्ट।
3. मनु0, 11.62 पर।

इससे यह स्पष्ट है कि कम से कम पूर्व मध्यकाल में सिंचाई के लिये बड़े बाँधों को बनाने के प्रति अहिंसा की धार्मिक भावना के कारण कुछ हद तक अनुकूल दृष्टिकोण न रहा होगा । पर इस आदर्श का व्यावहारिक स्तर पर कितना प्रभाव पड़ा होगा यह नहीं कहा जा सकता । बाँध आदि के निर्माण के कुछ उल्लेख तो मिलते ही हैं ।

सेतु एवं जलबन्ध के भङ्ग के सम्बन्ध में दण्ड

लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) के कृत्यकल्पतरु के व्यवहारकाण्ड में मनु का उद्धरण[1] दिया गया है, जिसमें "तडागभेदक" (मनु09.279) को जल में डुबा कर मार डालने या उसका वध कर देने के दण्ड का विधान किया गया है । पर लक्ष्मीधर[2] ने सेतुभेदकारी को अङ्गच्छेद के दण्ड का भी विकल्प दिया है । "शङ्खलिखित"[3] में कूप, सेतु आदि के भङ्ग पर आर्थिक दण्ड का भी विधान मिलता है जो उसकी मरम्मत (प्रतिसंस्कार) करने या कराने के अतिरिक्त होता था । शंखलिखित[4] में वापी, तड़ाग आदि को दूषित करने पर भी दण्ड का विधान किया है ।

---

1. व्यवहारकाण्ड, पृ0 566.
2. वही, पृ0 566.
3. वही, पृ0 566.
4. वही, पृ0 566.

मनुस्मृति (9·274) में ग्रामघात, हिलाभङ्ग आदि की स्थिति में शक्ति होते हुये जो दौड़ कर नहीं पहुँचते थे उन्हें सपरिच्छद निर्वासित कर देने का विधान मिलता है। मेधातिथि ने हिलाभङ्ग का अर्थ "परक्षेत्रोत्पन्न-सस्य-नाशनम्" किया है। पर कुल्लूक ने "हिताभङ्ग" पाठ ग्रहण कर इसका अर्थ "जलसेतुभङ्ग" (पानी के बाँध का भङ्ग होना) किया है। विवाद-रत्नाकर (पृ0 339) में भी "हिलाभङ्ग" का अर्थ "सस्यानुकूलजलबन्धविदारणे" (सस्य के लिये उपयोगी जलबन्ध का विदारण) मिलता है।[1]

इस प्रकार मेधातिथि के बाद के मनु के भाष्यकारों के साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि कृषि के लिये उपयोगी तड़ाग आदि के बन्धों के टूटने पर आस-पास के सभी लोगों से अपेक्षा की जाती थी कि वे दौड़ कर वहाँ पहुँचे और उचित मरम्मत करें। सामर्थ्य होने पर भी ऐसा न करने पर ग्राम या देश से निष्कासन का दण्ड दिया जाता था। यह कृष्योपयोगी जलबन्धों और तड़ागों की सुरक्षा एवं उनकी मरम्मत की ओर अधिक ध्यान दिये जाने का द्योतक लगता है।

कृषि अधिकतर वर्षा तथा सिंचाई के अन्य प्राकृतिक साधनों पर निर्भर

कई साक्ष्य ऐसे मिलते हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि कृषि अधिकतर वर्षा पर निर्भर थी। बंगाल के बल्लालसेन द्वारा रचित अद्भुतसागर (12वीं

1· व्यवहारकाण्ड, पृ0 550, पादटिप्पणी 4·

शताब्दी॰ में उद्धृत वृद्धगर्ग के अनुसार यदि वृष्टि नहीं होती थी तो कृषि का विनाश हो जाता था :-

देवो न वर्षति तदा शस्यं वैवोपहन्यते।[1]

वराहमिहिर[2] की बृहत्संहिता में भी यह कथन मिलता है कि अवृष्टि के कारण फसल नष्ट हो जाती थी और अकाल पड़ जाता था। 12वीं शताब्दी में वाराणसी में दामोदर पंडित द्वारा रचित उक्तिव्यक्तिप्रकरण[3] नामक ग्रन्थ में भी यह मिलता है कि अन्न का उत्पादन अधिकतर वृष्टि पर निर्भर रहता था। वराहमिहिर के होराशास्त्र पर रुद्र (14वीं शताब्दी का द्वितीयार्द्ध) द्वारा विरचित भाष्य में कृषि की व्याख्या निम्नलिखित रूप में की गई है।

नदीवर्षादिसलिलसम्पाद्यव्रीह्यादिजननं कर्म[4]।

इसका अर्थ है कि कृषि वह कर्म है जिसके द्वारा नदी और वर्षा आदि के जल से व्रीहि आदि अन्नों का उत्पादन होता है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि यद्यपि इस काल में अरहट्ट, नहरों, जलाशयों, कुओं आदि सिंचाई के हेतु

---

1. अद्भुतसागर, पृष्ठ 46, 117.
2. याम्यं करोत्यवृष्टिं दुर्भिक्षं संक्षयं च शस्यानाम् ।
   बृहत्संहिता, अद्भुतसागर, पृष्ठ 59 पर उद्धृत ।
3. जइ देउ वृष्टि करत तव अन्न होंते ।
   उक्तिव्यक्तिप्रकरण, पृष्ठ 9, पंक्ति 15.
4. वराहमिहिर के होराशास्त्र पर रुद्र की टीका,
   सम्पादक के० शाम्बशिव शास्त्री, अनन्तशयन संस्कृत ग्रन्थावली (ग्रन्थांक 91), 1926, 10.2.

निर्मित साधनों का विस्तार हुआ, फिर भी लगभग सम्पूर्ण भारत में कृषि एवं सिंचाई के प्राकृतिक साधनों—वृष्टि, नदी आदि के जल पर काफी हद तक आश्रित थी । सिंचाई के कृत्रिम साधनों का समुचित प्रयोग विशेष रूप से समृद्ध एवं साधन-सम्पन्न कृषक ही करते रहे होंगे । रुद्र की टीका भारत के दक्षिणी भाग, केरल, में लिखी गई । पर इसमें उल्लिखित परम्परा लगभग संपूर्ण देश की स्थिति की द्योतक है । इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में सिंचाई के साधनों एवं कृषि के उत्पादन के विकास का मूल्यांकन करते समय उपरोक्त स्थिति का ध्यान रखना आवश्यक है ।

बादलों एवं वर्षा के सम्बन्ध में ज्ञान का विकास

प्राचीन एवं मध्य काल में कृषि वर्षा पर काफी हद तक आश्रित होती थी[1] । इस स्थिति की लोगों को जानकारी थी । अतः बादलों एवं वर्षा के सम्बन्ध में व्यावहारिक एवं ज्योतिष-सम्बन्धी ज्ञान में उत्तरोत्तर वृद्धि होती गई । बृहत्संहिता, भट्टोत्पल की उसके ऊपर टीका, वल्लालसेन के अद्भुतसागर, काश्यपीयकृषिसूक्ति, गुरुसंहिता[2], कृषिपराशर आदि से ज्ञात होता है कि इस

---

1. द्रष्टव्य, ऊपर ।

2. गुरुसंहिता, संपादक लल्लन जी गोपाल, बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी, 1981.
   इस ग्रन्थ की तिथि प्रो० लल्लन जी गोपाल के अनुसार 12वीं शताब्दी के द्वितीयार्द्ध से लेकर तेरहवीं शताब्दी के प्रथमार्द्ध तक के काल के बीच मानी जा सकती है । वही, पृ० 27.

क्षेत्र में छठी से लेकर 12वीं शताब्दी तक के काल में ज्ञान का काफी विकास एवं विस्तार हुआ ।

बादलों के निर्माण, बादल एवं वर्षा के विषय में ज्ञान-सम्बन्धी परीक्षण

वराहमिहिर की बृहत्संहिता (21.1) एवं भट्टोत्पल की उसपर टीका में अन्न को जगत का प्राण कहा गया है और अन्न को प्रावृद्काल (वर्षा-समय) के अधीन समझा गया है; इस कारण प्रावृद्काल के अतिशय प्रयत्न[1] से परीक्षण की आवश्यकता पर विशेष बल दिया गया है । इस सन्दर्भ में बादलों के निर्माण और उनके बरसने या विकृत हो जाने की प्रक्रिया--गर्भलक्षण, गर्भप्रसवकाल, गर्भोपघात-- का विस्तार से विवेचन बृहत्संहिता (अध्याय 21), वल्लालसेन के अद्भुतसागर (पृ0 364 और आगे) एवं मेघमाला[2] में मिलता है[3]। इस अवधारणा के सम्बन्ध में एक से अधिक मत थे । पर इसका व्यावहारिक क्षेत्र में अधिक प्रभाव नहीं लगता, क्योंकि कृषिपराशर में हम मेघों के विचार के सन्दर्भ में इस प्रकार की अवधारणा नहीं पाते ।

---

1. प्रयत्नातिशयेन- भट्टोत्पल, बृहत्संहिता 21.1 पर ।
2. अजयमित्र शास्त्री, इंडिया एज सीन इन दि बृहत्संहिता ऑफ वराहमिहिर, पृ0 437 । लल्लन जी गोपाल ने एम0पी0 त्रिपाठी के मत का उद्धरण देते हुये इसकी तिथि 1200 ई0 से 1400 ई0 के बीच माना है--गुरुसंहिता, भूमिका, पृष्ठ 27, पादटिप्पणी 125.
3. इस के अनुसार गर्भधारण के 195 दिन बाद वृष्टि के रूप में प्रसव होता है । बृहत्संहिता, अध्याय 21.

बादलों का वर्गीकरण

जल-वृष्टि के स्वरूप को जानने हेतु बादलों के वर्गीकरण की परंपरा प्राचीन काल में भी प्रचलित थी । अर्थशास्त्र (2·24·9-10) के अनुसार तीन प्रकार के बादल ऐसे होते है जो सात दिन तक लगातार पानी बरसाते हैं, 80 प्रकार के वे होते हैं जो पानी की छोटी बूँदें बरसाते हैं, तथा 60 प्रकार के वे होते हैं जो सूर्य के प्रकाश के साथ आकाश में उद्भूत होते हैं । वराहमिहिर की बृहत्संहिता के रोहिणीयोगाध्याय में भी बादलों का विभेद मिलता है । इसके अनुसार[1] रूक्ष (अस्निग्ध); अल्प; वायु द्वारा तितर-बितर हुये; तथा शव अथवा ऊँट, कौवे, मर्कट, मार्जार आदि निन्दित प्राणियों के सदृश आभा या आकृति वाले बादलों से वृष्टि एवं कल्याण नहीं होते । एक अन्य स्थल पर कहा गया है कि स्निग्ध, संहत (घने) और प्रदक्षिणगति-क्रिया वाले (पूर्व से दक्षिण अथवा दक्षिण से पश्चिम अथवा पश्चिम से उत्तर अथवा उत्तर से पूर्व गति वाले (मेघ महती वृष्टि एवं सस्य की अभिवृद्धि करते हैं[2] ।

1· बृहत्संहिता, 24·21·

2· वही, 22·8·
ऐसी स्थिति में अजयमित्र शास्त्री का यह मत कि बृहत्संहिता में बादलों का कोई वर्गीकरण नहीं मिलता पूर्णतः समीचीन नहीं प्रतीत होता । अजयमित्र शास्त्री, इंडिया एज सीन इन दि बृहत्संहिता ऑफ वराहमिहिर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1969,पृ0 494·

मेघानयन के सन्दर्भ में कृषिपराशर[1] के अनुसार शकाब्द में वह्नि (3) संयुक्त करके छेद (4) से भाग देने पर शेष के अनुसार वर्ष में वर्षा के स्वरूप एवं मात्रा के द्योतक मेघ का प्रकार आ जाता है-- (1) आवर्त, (2) संवर्त, (3) पुष्कर और (4) द्रोण । आवर्त से केवल कुछ क्षेत्रों में वर्षा होती है, संवर्त चारों ओर पानी बरसाता है, पुष्कर में वर्षा दुष्कर होती है, तथा द्रोण में पृथ्वी बहुजला हो जाती है । "पुष्कर" एवं "आवर्त" शब्द मेघ के सन्दर्भ में कालिदास के मेघदूत (पूर्वमेघ, श्लोक 6) में भी मिलते हैं । "द्रोणमेघ" का उल्लेख शूद्रक के मृच्छकटिक (10·26) में भी प्राप्त होता है । पर कृषिपराशर की भाँति मेघ का वर्गीकरण पहले नहीं मिलता ।

वल्लालसेन के अद्भुतसागर[2] में भार्गवीय का उद्धरण देते हुये मेघ के चार वर्ण बताये गये हैं -- श्वेत, श्याम, हरित एवं कृष्ण । इनमें व्यक्त (स्पष्ट लक्षणों वाले) तथा स्निग्ध मेघ पूजित माने गये हैं । इस सन्दर्भ में विभिन्न वर्णों वाले मेघों का सम्बन्ध उनकी पानी बरसाने की क्षमता से जोड़ने का प्रयास किया गया है ।

1· कृषिपराशर, सम्पादक एवं अनुवादक गिरिजा प्रसन्न मजूमदार एवं सुरेशचन्द्र बनर्जी, एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1960, श्लोक 23-25 (पृ० 6) ।

2· अद्भुतसागर, सम्पादक मुरलीधर झा, प्राभाकरी यन्त्रालय, काशी 1905, पृष्ठ 358·

मेघों का सबसे विस्तृत वर्गीकरण मेघमाला नामक ग्रन्थ में मिलता है, जिसकी चार पाण्डुलिपियाँ, भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना में सुरक्षित हैं[1]। मेघमाला की रचना की तिथि नहीं निश्चित है, पर इसके मध्यकाल के होने की सम्भावना वर्गीकरण के विस्तार को देखते हुये लगती है[2]। पूर्व मध्यकाल की परम्पराओं का भी इसमें समावेश लगता है। इसकी सबसे पुरानी पाण्डुलिपि की प्रतिलिपि विक्रम सं0 1759 में की गई। इसमें मेघों के 80 प्रकार बताये गये हैं। मन्दर, कैलाश, कोट, जठर, श्रृङ्गवेर, पर्यन्त, हिमवत् एवं गन्धमादन नामक पर्वतों में से प्रत्येक से 10 प्रकार के मेघ सम्बन्धित किये गये हैं: इनके नाम भी बताये गये हैं, जिन्हे ज्योतिष से सम्बन्धित किया गया है[3]। इस प्रकार पूर्व मध्यकाल एवं बाद के काल में मेघों के अध्ययन की परम्परा विस्तृत एवं गहरी होती है।

सद्योवर्षण का ज्ञान

जल का वर्षण आसन्न या निकट होने की जानकारी के दो आधार थे -- ज्योतिष तथा सामान्य लक्षण-ज्ञान।

---

1. अजयमित्र शास्त्री, ऊपर उद्धृत, पृ0 492.
2. द्रष्टव्य ऊपर.
3. अजयमित्र शास्त्री, ऊपर उद्धृत, पृ0 494-95.

ज्योतिष[1] के अनुसार ऐसा तो प्रश्न-लग्न के आधार पर कथन किया जाता था, और दूसरे ग्रहों की विशेष स्थितियों के आधार पर। वर्षा के मौसम में वर्षा-सम्बन्धी प्रश्न में यदि प्रश्न कुण्डली में शुक्ल पक्ष का चन्द्रमा जल-राशि (कर्क, मकर अथवा मीन राशि) में लग्न (पहले घर) से केन्द्र (पहले, 4 थे, 7 वें या 10 वें घर) में पड़े, अथवा कृष्ण पक्ष का चन्द्रमा जल राशि में लग्न में अवस्थित हो तो शीघ्र ही वर्षा होती है। यदि चन्द्रमा पर सौम्य ग्रह (बुध, बृहस्पति या शुक्र) की दृष्टि हो तो प्रभूत वर्षा होती है। पर यदि उस पर पाप ग्रह (सूर्य, मंगल या शनि) की दृष्टि हो तो कम वर्षा होती है। यदि सौम्य और पाप दोनों की दृष्टि हो तो मध्यम वर्षा होती है।

वर्षा काल में जब कभी शुक्र से सप्तम या शनि से पंचम, सप्तम या नवम स्थान में शुभ (बुध, बृहस्पति या शुक्र) दृष्ट चन्द्रमा अवस्थित हो तो भी वर्षा के आसन्न होने का योग बनता है[2]। यह भी कहा गया है कि प्राय: ग्रहों के उदय या अस्त होने के समय, ताराग्रहों (सूर्य, राहु एवं केतु को छोड़कर अन्य ग्रहों) का चन्द्रमा से समागम होने के काल में, पक्षक्षय (अमावस्या या पूर्णमासी के अन्त के) समय में, तथा कर्कट अथवा मकर राशि में सूर्य की संक्रान्ति के समय अधिक वृष्टि होती है[3]। गोचर में सूर्य के आर्द्रा नक्षत्र में रहने के काल को वृष्टि होने का निश्चित योग बताया गया है[4]। गोचर में सूर्य के आगे या पीछे

---

1. बृहत्संहिता, 28.1 (भट्टोत्पल की टीका के साथ)
2. बृहत्संहिता, 28.19 (भट्टोत्पल की टीका के साथ)
3. वही, 28.20.
4. वही, 28.20.

रहने वाले ग्रह जब अस्ताभिलाषी होते हैं तो प्रभूत वृष्टि का योग होना बताया गया है।[1] बुध एवं शुक्र के समागम के समय भी प्रभूत वृष्टि का योग उत्पन्न होता है[2]। इसके अतिरिक्त सद्योवर्षण के अन्य योग भी बताये गये हैं।

ज्योतिषी शकुन के आधार पर भी वर्षा के प्रश्न का उत्तर देता था। उदाहरणार्थ, <u>बृहत्संहिता</u> के अनुसार प्रश्नकर्ता द्वारा आर्द्र द्रव्य का स्पर्श करते हुये, अथवा जल का स्पर्श करते हुये, अथवा जल के समीप बैठकर प्रश्न किये जाने को शीघ्र वर्षा होने का लक्षण बताया गया है[3]।

सामान्य लक्षणों के आधार पर सद्योवर्षण के द्योतक कई दृश्य-प्रपंच बताये गये हैं— सूर्य का मध्य आकाश में चौंधियाने वाले प्रकाश के साथ तपना, आकाश का गाय के नेत्र के रंग का हो जाना, नमक का आर्द्र हो जाना, वायु का रूक जाना, मछलियों का जल के किनारे आना, मेढकों का लगातार बोलना, बिल्लियों का अपने नाखूनों से भूमि खरोंचना, लोहे पर जंग या मोर्चा जमना, बच्चों का रास्ते में बालू के पुल (सेतुबन्ध) बनाने का खेल, पर्वतों का काले अंजन-वर्ण के समान दिखना, चींटियों का अकारण अपने अंडे लेकर बिलों से बाहर निकलना,

---

1. वही, 28.22.

2. वही, 28.21.

3. वही, 28.2.

गायों का सूर्य की ओर ऊपर देखना, पालतू पशुओं की घर से बाहर निकलने में हिचकिचाहट तथा उनका कान एवं खुर हिलाना, कुत्तों का आकाश की ओर देखकर भूँकना, दिन में उत्तर-पूर्व की दिशा में बिजली चमकना, रात्रि में चन्द्रमा का शुक और कपोत के नेत्र के समान लोहित कांति से युक्त हो जाना, सूर्य अथवा चन्द्रमा के चारों ओर परिवेश बन जाना, सूर्य की दिशा से शीतल वायु का आना, बिल्लियों, नेवलों, साँपों एवं दलदल वाले स्थान में रहने वाले जीवों में उत्तेजना या क्षोभ होना, साँपों का पेड़ पर चढ़ जाना, जल में या उसके समीप रहने वाली चिड़ियों का पंख सुखाना, इत्यादि[1]।

इन दृष्य-प्रपंचों के आधार पर सामान्य व्यक्ति भी सद्योवर्षण के सम्बन्ध में जानकारी कर लेते थे। इनका व्यापक प्रचार रहा होगा। इसका उल्लेख हम ज्योतिष की पुस्तकों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों[2] में भी यत्र-तत्र पाते हैं।

ग्रह-संचार के आधार पर वृष्टि का ज्ञान

कृषिपराशर (श्लोक 71-72) से ग्रह-संचार के आधार पर भी वृष्टि का ज्ञान होता है। इसके अनुसार मंगल एवं शनि के एक राशि से दूसरी में जाने पर निश्चित रूप से वृष्टि होती है। बृहस्पति के एक राशि से दूसरी

---

1. बृहत्संहिता, 28.3 और आगे।
   कृषिपराशर, श्लोक 63-68.
2. उदाहरणार्थ सद्योवर्षण के सूचक कुछ लक्षण-गायों का ऊपर देखना, सांपों का पेड़ पर चढ़ना और चींटियों का अण्डे लेकर निकलना-कल्हण की राजतरंगिणी (8.722) में भी उल्लिखित हैं।

राशि में जाने के पहले ही तेज वर्षा होती है। ग्रहों के उदय या अस्त होने पर तथा उनके वक्री या अतिचारी होने पर भी प्राय: वृष्टि होती है ।

वार्षिक वृष्टि का अनुमान

पूरे वर्ष के काल में वृष्टि के अनुमान के लिये कई विधियाँ थीं । बृहस्पति के द्वादशवर्षीय चक्र के तथा उसके षष्ठिवर्षीय चक्र के अनुसार दो प्रकार से अलग-अलग नाम वाले वर्षों की अवधारणा की गई थी[1] । इन वर्षों को अन्य बातों के साथ-साथ अलग-अलग समा वृष्टि, सुवृष्टि, मध्यम वृष्टि, अल्पवृष्टि, अनावृष्टि अथवा अतिवृष्टि एवं सस्य की स्थिति से सम्बन्धित किया गया है । बृहत्संहिता पर भट्टोत्पल की टीका में इन सबका विस्तार मिलता है तथा उसमें गर्ग आदि अन्य आचार्यों के मतों का भी उद्धरण मिलता है ।

बृहत्संहिता के 19वें अध्याय में क्रमश: सूर्य, चन्द्र, मंगल, बुध, बृहस्पति, शुक्र एवं शनि के आधिपत्य के वर्षों (संवत्सरों) की परिकल्पना की गई है । इनमें चन्द्रमा, बृहस्पति एवं शुक्र के वर्षों को सुवृष्टिकर एवं कृषि की वृद्धि में सहायक बताया गया है । सूर्य, मंगल एवं शनि के वर्षों को सुवृष्टि एवं कृषि-वृद्धि के लिये अनुकूल नहीं बताया गया है । उपर्युक्त ग्रहों के मासों एवं दिनों में भी इसी प्रकार के फल की परिकल्पना की गई हैं । शनि को इसमें सबसे खराब बताया गया है । इस अध्याय के अन्त (श्लोक22) में बताया गया है कि

---

1. बृहत्संहिता, अध्याय8 (भट्टोत्पल की टीका के साथ) ।

वर्षपति यदि अस्त, नीच या ग्रहयुद्ध में पराजित हो तो वह सकल शुभ फलों का दाता नहीं हो सकता । यदि वह बली (उच्चस्थ, स्वगृहस्थ, मित्रक्षेत्रस्थ आदि) हो तो सभी सम्बद्ध क्षेत्रों में पूर्ण शुभ फल देता है ।

इसके अतिरिक्त आषाढ़ मास (मई-जून) के कृष्ण पक्ष में चन्द्रमा के रोहिणी नक्षत्र में जाने पर सूर्योदय काल से दिन के विभिन्न प्रहरों में शोभन वायु बहे तो निम्नवत् रूप में वर्षा होने का उल्लेख मिलता है[1]।

दिन का प्रहर (3 घंटे का) जिनमें शोभन वायु बहे		वर्षा का काल
प्रथम	-	श्रावण प्रथम पक्ष
द्वितीय	-	श्रावण द्वितीय पक्ष
तृतीय	-	भाद्रपद प्रथम पक्ष
चतुर्थ	-	भाद्रपद द्वितीय पक्ष

रात्रि का प्रहर (3 घंटे का)		वर्षा का काल
प्रथम	-	आश्वयुज प्रथम पक्ष
द्वितीय	-	आश्वयुज द्वितीय पक्ष
तृतीय	-	कार्तिक प्रथम पक्ष
चतुर्थ	-	कार्तिक द्वितीय पक्ष

अशुभ वायु से अनावृष्टि होना बताया गया है ।

---

1. बृहत्संहिता, 24.10 (भट्टोत्पल की टीका के साथ) ।

आषाढ़ मास के शुक्ल पक्ष में चन्द्रमा के स्वाती नक्षत्र में जाने पर दिन के विभिन्न भागों में वर्षा होने के अनुसार निम्नवत् रूप में चार महीने में वर्षा होना बताया गया है[1] -

दिन के विभाग	-	वर्षा का स्वरूप
प्रथम	-	सुवृष्टि
द्वितीय	-	सुवृष्टि
तृतीय	-	मध्यमा वृष्टि

चन्द्रमा के स्वाती नक्षत्र में रहने पर दिन-रात वर्षा होना वर्षा के चारों महीनों में सर्वत्र पानी बरसने का लक्षण बताया गया है। भट्टोत्पल ने अपनी टीका में गर्ग का भी उद्धरण दिया है, जिससे इस मत के प्रचलन का प्रमाण मिलता है[2]। माघ मास के कृष्ण पक्ष की सप्तमी तिथि को चन्द्रमा के स्वाती नक्षत्र में जाने पर ओले गिरना, तेज हवा चलना, बादल का गरजना, बिजली चमकना सुवृष्टि एवं सस्य-वृद्धि के द्योतक बताये गये हैं[3]।

आषाढ़ मास की पूर्णमासी को रात भर विभिन्न प्रकार के अनाज बराबर मात्रा में रखे जाने पर जिनका भार अधिक हो जाता था उनकी वृद्धि तथा जिन का

---

1. बृहत्संहिता 25.3.
2. भट्टोत्पल, बृहत्संहिता 25.3 पर
3. वही, 25.5.

कम हो जाता था उनका ह्रास अनुमानित किया जाता था । भार के न घटने या बढ़ने पर सामान्य उपज का अनुमान लगाया जाता था । इस प्रकार मोटे तौर पर भी वार्षिक वर्षा एवं कृषि उत्पादन का अनुमान लगाया जाता था[1] ।

कृषिपराशर[2] में वर्ष के अधिप एवं मन्त्री की अवधारणा के आधार पर पूरे वर्ष की वर्षा का ज्ञान करने की विधि बताई गई है। एक दूसरी विधि[3] के अनुसार सम्पूर्ण पौष मास को एक-एक महीने के द्योतक ढाई-ढाई दिन के 12 खण्डों में बाँटकर पताका के सहारे वायु की दिशा जानकर पौष तथा उसके आगे के 11 महीनों में वृष्टि का अनुमान लगाया जा सकता है। इन 12 खण्डों में से किसी में भी वायु का उत्तर या पश्चिम से बहना सुवृष्टि का सूचक है, पूरब या दक्षिण से वायु का बहना अल्पवृष्टि का सूचक है, यदि किसी निश्चित दिशा में वायु नहीं बहती तो यह अनावृष्टि का सूचक है, यदि वायु अनियमित रूप में बहती है तो यह असमा वृष्टि का सूचक है । इसी सन्दर्भ में दिन या रात में होने वाली वर्षा के सम्बन्ध में भी जानने की विधि बताई गई है ।

इसके अतिरिक्त कृषि-पराशर में (श्लोक 30-40) में वर्षा के मौसम में सुवृष्टि एवं सस्य-वृद्धि जानने की अन्य विधियाँ भी बताई गई हैं, जो निम्नवत् हैं:-

---

1. बृहत्संहिता, 26.
2. कृषिपराशर, श्लोक 12 और आगे ।
3. वही, श्लोक 30 और आगे ।

(1) माघ (जनवरी-फरवरी) और फाल्गुन (फरवरी-मार्च) मासों के कृष्णपक्ष की सप्तमी तिथि को अथवा चैत्र (मार्च-अप्रैल) के शुक्ल-पक्ष की तृतीया को अथवा वैशाख के पहले दिन में बादलों की गरज या बिजली की चमक के साथ पानी बरसना।

(2) आषाढ़ मास के शुक्लपक्ष की सप्तमी को पानी बरसना (इस दिन पानी न बरसना वर्ष में सूखे का द्योतक माना गया है)। वार्षिक वर्षा को जानने की अन्य विधियाँ भी कृषिपराशर (श्लोक 45-49, 56-57) में दी गई हैं।

वार्षिक वृष्टि के परिमाण का आकलन

सीताध्यक्ष द्वारा वार्षिक वृष्टि के परिमाण को नापने के लिये एक अरत्नि (हस्त=18 इंच) व्यास वाले कुण्ड को स्थापित करने का विधान अर्थशास्त्र की परम्परा में मिलता है[1]। वराहमिहिर की बृहत्संहिता के भाष्यकार भट्टोत्पल ने समाससंहिता का उद्धरण दिया है जिससे जल का परिमाण नापने हेतु एक हस्त के मापदण्ड को मागधमान कहा गया है[2]। इस प्रकार जल-प्रमाण के निर्देश के लिये एक हस्त व्यासवाला गोला कुण्ड बनाने की परम्परा मौर्य-काल

---

1. भट्टस्वामिन्स कमेन्टरी ऑन कौटिल्य्स अर्थशास्त्र, सम्पादक काशी प्रसाद जायसवाल एवं ए0 बनर्जी शास्त्री, जे0बी0ओ0आर0एस0, जिल्द 12, भाग 2, पृष्ठ 135.

   अर्थशास्त्र में भारत के प्रमुख क्षेत्रों के वर्षा के परिमाण भी दिये गये हैं।

2. बृहत्संहिता 23.2 पर।

से लेकर गुप्त-काल तक मिलती है[1]। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में पल, आढक और द्रोण की माप बताई गई है। 50 पल का एक आढक होता था और चार आढक का एक द्रोण। पर किस समय वृष्टि का जल मापना प्रारम्भ करना चाहिये और इससे सम्बन्धित अन्य बातों के विषय में मतभेद था। माप की पद्धति के सम्बन्ध में भी मतभेद था।

बृहत्संहिता पर अपने भाष्य में भट्टोत्पल ने पराशर के मत का उद्धरण दिया है[2]। इसके अनुसार जल मापने वाले पात्र की ऊँचाई और व्यास क्रमशः 20 अंगुल (15 इंच) और 8 अंगुल होते थे, और जब यह पूरा भर जाता था तो एक आढक की माप होती थी। एक स्थूल पद्धति भी भट्टोत्पल द्वारा पराशर से सम्बन्धित की गई है। इसके अनुसार। धनुष या 4 हस्त माप जल का प्रमाण एक द्रोण होता था[3]। कृषिपराशर (श्लोक 26) में एक और स्थूलमान दिया गया है। इसके अनुसार 100 योजन के वर्ग में फैला हुआ, ऊँचाई में 30 योजन का, पानी एक आढक के बराबर होता था। यह मान संदिग्ध लगता है। मेघमाला के अनुसार 7 रातों तक लगातार बरसने वाला पानी एक द्रोण होता था। पर कृषिपराशर (श्लोक 240) में।एक विशेष प्रकार के पात्र द्वारा भी

---

1. अजयमित्र शास्त्री, पूर्वोद्धृत, पृ० 497.

2. बृहत्संहिता, 21.32 पर।

3. उसी पर।

जल नापने का विधान दिया गया है । इसमें 12 अंगुल ﴾9 इंच﴿ लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई वाले पात्र का प्रयोग होता था । यह पात्र श्लेष्मान्तक आम या पुन्नाग की लकड़ी का होता था ।

अध्याय 3

कृषि के उपकरण एवं साधन तथा कृषि-क्रिया

अध्याय 3

कृषि के उपकरण एवं साधन तथा कृषि-क्रिया

कृषि के उपकरण एवं साधन

पूर्व मध्यकाल में कृषि के उपकरण एवं साधन लगभग वही थे जो प्राचीन काल में प्रचलित थे। पर इस काल के कुछ ग्रन्थों में हम उनका अधिक स्पष्ट उल्लेख पाते हैं। उनके लिये प्रयुक्त किये जाने वाले शब्दों की संख्या में भी वृद्धि मिलती है।

हल

हल प्राचीन काल से ही कृषि का बड़ा महत्त्वपूर्ण उपकरण माना जाता था। प्राचीन साहित्य में हल, लाङ्गल और सीर शब्द कृषि के इस उपकरण के लिये प्रयुक्त किये गये हैं। विष्णु-पुराण में इन तीनों को पर्यायवाची के रूप में दिया गया है[1]। अमरकोश (2.9.13) में भी हल के चार नाम बताये गये हैं--

लाङ्गल, हल, गोदारण एवं सीर। इसमें हल के निम्नलिखित भाग बताये गये हैं--

(1) शम्या, या युग-कीलक--

यह सैल या सैला होता था, जिसके द्वारा बैलों को जुये में नाधा जाता था।

---

1. सर्वदानन्द पाठक, विष्णु पुराण का भारत, वाराणसी, 1967, पृ० 196.

(2) ईषा या लाङ्गल-दण्ड ।

(3) युग—यह जुआ होता था (अमरकोश 2·9·14) ।

(4) योत्र अथवा योक्त्र — यह बैल के गले में बाँधा जाने वाला युगबन्धन (जुये का बन्धन) होता था (अमरकोश 2·9·13) ।

(5) फाल— यह हल के आगे भाग में ठोका हुआ लोहे का नुकीला लम्बा टुकड़ा होता था, जो भूमि के अन्दर जाकर मिट्टी खोदता था । अमरकोश (2·9·13) में इसके लिये फाल, निरीष, कूटक, फल एवं कृषिक शब्द पर्यायवाची के रूप में दिये गये हैं । प्रो० सिद्धेश्वरी नारायण राय के अनुसार प्रारम्भिक पुराणों में कुछ स्थलों पर फाल शब्द हल के अर्थ में भी प्रयुक्त किया गया है ।[1]

कृषिपराशर के अनुसार हल-सामग्री

कृषिपराशर में हमें हल के विभिन्न भागों एवं हल की सामग्री का अपेक्षाकृत विस्तृत वर्णन मिलता है । इसमें हल के निम्नलिखित आठ अङ्ग बताये गये हैं:[2]—

(1) ईषा, (2) युग, (3) हलस्थाणु, (4) निर्योल, (5) निर्योल की पाशिकाएँ, (6) अड्डचल्ल, (7) शौल, (8) पच्चनी ।

1· वही, पौराणिक धर्म एवं समाज, पृ० 37।·

2· कृषिपराशर, सम्पादक गिरिजा प्रसन्न मजूमदार एवं सुरेश चन्द्र बनर्जी, दि एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता, 1960, श्लोक 112 (पृ० 29) ।

इनमें ईषा और युग को छोड़कर और नाम अमरकोश में नहीं मिलते । इस परिगणना में फाल को नहीं बताया गया है । पर इसी सन्दर्भ में आगे उसका वर्णन किया गया है[1] ।

ईषा

कृषिपराशर[2] के अनुसार यह पाँच हस्त लम्बा एक दण्ड था । यह हल का एक महत्त्वपूर्ण अंग था, जो लकड़ी का बनता था । यह पराशरस्मृति के एक श्लोक से स्पष्ट हो जाता है, जिसमें सम्पूर्ण हल को लोहे के मुख वाला (अयोमुख) काष्ठ कहा गया है[3] । हल मजबूत लकड़ी का बनाया जाता था । कृषिपराशर (श्लोक 146) के अनुसार हल-प्रवाहण के समय ईषा का भङ्ग हो जाना कृषक के लिये प्राणनाश का सूचक था । ईषा को हिन्दी में हरिस या हरीस कहा जाता है ।

फाल

बृहस्पति-स्मृति[4], जो प्राचीन काल की स्थिति का द्योतक है, में फाल को 8 अंगुल लम्बा, 4 अंगुल चौड़ा एवं 12 पल[5] वजन का लोहे का बना

---

1. वही, श्लोक 117.
2. पञ्चहस्ता भवेदीषा—वही, श्लोक 113.
3. पराशरस्मृति, 2.12.
4. आयसं द्वादशपलं घटितं फालमुच्यते ।
   x x x x बृहस्पतिस्मृति 8.79.
   अष्टाङ्गुलं भवेद्दीर्घं चतुरङ्गुलविस्तृतम् ।

बताया गया है । यह छोटे प्रकार का फाल रहा होगा । फाल के सम्बन्ध में वृहस्पति का यह उद्धरण लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) के कृत्यकल्पतरु के व्यवहारकाण्ड (पृ0 253) में भी मिलता है । इससे स्पष्ट है कि फाल के नाप एवं तोल की यह परम्परा पूर्व मध्यकाल में भी प्रचलित थी । पर पूर्व मध्यकाल में कृषि पर लिखे ग्रन्थ कृषिपराशर[1] में फाल (फालक) के 2 प्रकारों का उल्लेख किया गया है । एक की लम्बाई 1 हस्त 5 अंगुल बताई गई है, और दूसरे की एक हस्त । इसके अतिरिक्त इसमें छोटे फाल (फालिका) का भी उल्लेख किया गया है जिसे अर्कपत्र के आकार का 9 अंगुल लम्बा बताया गया है[2] । इससे यह स्पष्ट होता है कि पूर्व मध्यकाल में फाल के कई प्रकारों का प्रचलन हो गया था । प्राचीन काल में भी विभिन्न क्षेत्रों में फाल के एक से अधिक प्रकार रहे होंगे । पर पूर्व मध्यकाल में इन प्रकारों का विस्तार हुआ होगा। इसके अतिरिक्त कृषिपराशर में एक हस्त 5 अंगुल या एक हस्त की लम्बाई के फालों का उल्लेख इस बात का संकेत करता है कि सघन और गहरी जुताई के लिये लम्बे फालों का प्रयोग अपेक्षाकृत बड़े पैमाने पर होने लगा होगा । इस प्रकार फाल के कई

.....ए संस्कृत इंगलिश डिक्शनरी, पृ0 609, एक कर्ष 176 ग्रेन या 280 ग्रेन (सामान्य व्यवहार में) के बराबर माना जाता था (मोनियर विलियम्स, वही, पृ0 259)। इस प्रकार एक पल 704 या 1120 ग्रेन के बराबर था ।

1. पंचाङ्गुल्याधिको हस्त: हस्तो वा फालक: स्मृत: । कृषिपराशर, श्लोक 117.

2. अर्कस्य पत्र-सदृशी फालिका तु नवाङ्गुला ।

वही, श्लोक 117.

प्रकारों के उल्लेख तथा उनमें से कुछ की विशेष लम्बाई से पूर्व मध्यकाल में कृषि के विस्तार एवं विकास का स्पष्ट संकेत मिलता है ।

निर्योल –

यह हरिस और फाल के अतिरिक्त लकड़ी का एक दण्ड होता था[1] । इसे $1\frac{1}{2}$ हस्त लम्बा बताया गया है[2] ।

निर्योल की पाशिकाएँ – राधारमन गंगोपाध्याय[3] के अनुसार ये लोहे की प्लेटें होती थीं, जो फाल को निर्योल में आबद्ध करती थीं । पर मोनियर विलियम्स का उद्धरण देते हुये गिरिजाप्रसन्न मजूमदार एवं सुरेशचन्द्र बनर्जी इनके चमड़े के पट्टे होने की अधिक सम्भावना व्यक्त करते हैं[4] । इसे 12अंगुल लम्बाई का बताया गया है[5] ।

स्थाणु – यह लकड़ी का एक टुकड़ा होता था जो निर्योल में जहाँ फाल लगा रहता था उसके सामने ठुका रहता था[6] । इसी को पकड़ कर कर्षक हल चलाता था[7] । इसकी लम्बाई पाँच वितस्तिक बताई गई है[8] ।

---

1. राधारमन गंगोपाध्याय, वही, पृ0 64.
2. कृषिपराशर, श्लोक 113.
3. ऐग्रिकल्चर ऐण्ड ऐग्रिकल्चरिस्ट्स इन ऐंशेंट इंडिया, पृ0 64.
4. कृषिपराशर, ग्लॉसरी, पृ0 2.
5. वही, श्लोक 114.
6. राधारमन गंगोपाध्याय, ऐग्रिकल्चर एण्ड ऐग्रिकल्चरिस्ट्स इन ऐंशेंट इंडिया, सिरामपोर, 1932, पृ0 65.
7. वही, उपर्युक्त पृष्ठ ।
8. कृषिपराशर, श्लोक 113.

योत्र[1] - इसका उपयोग बाँधने के लिये किया जाता था, इसकी लम्बाई 4 हस्त बताई गई है। लक्ष्मीधर के कृत्यकल्पतरु के व्यवहारकाण्ड (पृ0 403) में इसके लिये योक्त्र शब्द आता है। अमरकोश (2·9·13) के अनुसार योत्र, योक्त्र और आबन्ध शब्द समानार्थक थे। गिरिजाप्रसन्न मजूमदार एवं सुरेशचन्द्र बनर्जी के अनुसार योत्र द्वारा हल के जुये को बैल की गर्दन से बाँधा जाता था[2] पर हिन्दी में नाधा शब्द, जो योत्र के समानार्थक है, जुये को हल की हरीस से बाँधने वाली रस्सी या चमड़े की पट्टी के लिये मिलता है[3]। उत्तर प्रदेश के कुछ गाँवों में चमड़े के नाधे का भी प्रयोग देखा जाता है। कृषिपराशर (श्लोक 116) में 5 हस्त की रज्जु (रस्सी) का भी उल्लेख योत्र के साथ ही किया गया है। इस रस्सी और योत्र में से एक बैल की गर्दन को जुये से और दूसरा जुये को हरीस से बाँधने के लिये प्रयुक्त होता रहा होगा।

.... मोनियर विलियम्स के अनुसार एक वितस्तिक (बित्ता) 12 अंगुल या 9 इन्च के बराबर होता था - ए संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी, पृ0 962.

1· कृषिपराशर, श्लोक 116,147·

2· वही, ग्लॉसरी, पृ0 2.

3· मानक हिन्दी कोश, खण्ड 3, सम्पादक रामचन्द्र वर्म्मा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1964, पृ0 242·

गौल- यह लकड़ी का एक अतिरिक्त टुकड़ा होता था जो निर्योल को हरिस से जकड़ कर आबद्ध करता था। इसे एक अरत्नि (एक हस्त) लम्बा बताया गया है[2]।

पच्चनी या पाचनिका - यह बाँस की बनी लोहे से मढ़े सिरे वाली होती थी। इसकी लम्बाई 12½ मुष्टि या 9 मुष्टि बताई गई है[3]। यह बैलों को हाँकने के लिये होती थी। हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि (3.557) में इसके लिये प्रतोद, प्रवयण, प्राजन और तोत्र शब्द मिलते हैं। पर अमरकोश (2.9.12) में इसके लिये केवल 3 शब्द दिये गये है-

(1) प्राजन, (2) तोदन, (3) तोत्र। हेमचन्द्र की देशीनाममाला (2.97) में प्राजन-दण्ड के लिये देशी शब्द गोच्चओं मिलता है। ऐसा लगता है कि कृषि के विस्तार एवं विकास के क्रम में कृषि के उपकरणों के बोधक पर्यायवाची शब्दों की संख्या बढ़ने लगी।

---

1. राधारमन गंगोपाध्याय, ऊपर उद्धृत, पृ0 64-65.
2. कृषिपराशर, श्लोक 114.
3. वही, श्लोक 115. एक मुष्टि लगभग 4 इंच के मानी जाती है; द्रष्टव्य राधारमन गंगोपाध्याय, ऊपर उद्धृत, पृ0 65.

युग- यह जुआ होता था । इसे "कर्णसमानकम्"[1] बताया गया है । इसका अर्थ स्पष्ट नहीं है । पर सम्भवतः यह पद बैलों के कानों तक जुये के होने के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[2] ।

अड्डचल्ल— यह जुये का पिन होता था, जिसको लगाकर बैल नाधा जाता था । इसे बारह अंगुल का बताया गया है[3] ।

आबद्ध[4] — यह गोला (मण्डलाकार) लोहे का बना होता था । यह निर्योल को हल के दण्ड से आबद्ध करता था[5] । राधारमन गंगोपाध्याय[6] ने कृषि-संग्रह का जो पाठ ग्रहण किया है उसके अनुसार यह 15 अंगुल (पञ्चदशाङ्गुल) या लगभग 1 फुट लम्बा होता था । पर गिरिजाप्रसन्न मजूमदार ने कृषिपराशर की एक पाण्डुलिपि के "पञ्चदशाङ्गुल" पाठ को छोड़कर दूसरी पाण्डुलिपि के "चतुः-पञ्चाशदङ्गुलः" पाठ को प्रामाणिक मानकर ग्रहण किया है[7]। इसके अनुसार आबद्ध की लम्बाई 54 अङ्गुल आती है । हो सकता है कि आबद्ध की लम्बाई सर्वत्र एक ही न रही हो ।

---

1. कृषिपराशर, श्लोक 113.
2. वही, श्लोक 113 का अंग्रेजी अनुवाद ।
3. वही, श्लोक 114; ग्लॉसरी, पृ0 1.
4. कृषिपराशर, श्लोक 116
5. राधारमन गंगोपाध्याय, ऊपर उद्धृत, पृ0 65.
6. वही, पृ0 65.
7. कृषिपराशर, श्लोक 116, पादटिप्पणी 5.

विद्धक[1] - इसे 21 कीलों (शल्यों) वाला हैरो बताया गया है[2], यह एक प्रकार का गोड़ने का पटरा रहा होगा । इसका समीकरण जैन-ग्रन्थ निशीथ-चूर्णि (7वीं शताब्दी) में आने वाले "दन्तालक"[3] से की जा सकती है, जिसे वहाँ एक प्रकार का हल बताया गया है । पर यह भी हो सकता है कि यह कृषि का एक अलग उपकरण भी माना जाता रहा हो[4] ।

हलशिखा - हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी) की देशीनाममाला (3·41) में जवणं शब्द हल की मुठिया के लिये दिया गया है । हेमचन्द्र ने संस्कृत में इसका अर्थ हल-शिखा बताया है । कृषिपराशर में इसका स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता है ।

कृषिपराशर में हल-सामग्री की उपयुक्तता पर विशेष बल दिया गया है । उसमें यह बताया गया है कि हल की सामग्री सुदृढ़ एवं सम्यक् नाप की होनी चाहिये । हल-सामग्री के "अदृढ़" एवं "अयुक्तमान" (समुचित नाप की नहीं) होने पर जोतने के समय पग-पग पर बाधा उत्पन्न होती है[5] ।

1· वही, श्लोक 118·

2· वही, श्लोक 118; ग्लॉसरी, पृष्ठ 2·

3· मधु सेन, ए कल्चरल स्टडी ऑफ निशीथचूर्णि, पृ0 235·

4· तत्वार्थाधिगमसूत्र पर अकलंक की व्याख्या में हल, कुलिय एवं दन्तालक कृषि के तीन भिन्न उपकरण माने गये हैं । डा0 अच्छेलाल, प्राचीन भारत में कृषि, पृ0 170, पादटिप्पणी 7·

5· अदृढायुक्तमाना या सामग्री वाहनस्य च ।
विघ्नं पदे पदे कुर्यात् कर्षकाले न संशयः ।।

कृषिपराशर, श्लोक 120·

हल का प्रकार-वैभिन्य

विभिन्न परिस्थितियों में अलग-अलग प्रकार के हलों की आवश्यकता सभी कालों में होती रही होगी। हलकी, मामूली नम मिट्टी की समुचित जुताई के लिये हलके हल पर्याप्त होते थे। पर सख्त या खरपतवार वाली मिट्टी में गहरी जुताई के लिये बड़ा हल चलाने की आवश्यकता होती थी[1]। छोटे हल और बड़े हल की परम्परा का एक स्पष्ट प्रमाण हमें पाणिनि (5वीं शताब्दी ई० पू०) की अष्टाध्यायी में मिलता है। पर यह परम्परा पाणिनि के पहले से ही प्रचलित रही होगी। प्रो० हरबंस मुखिया[2] ने मध्यकालीन उत्तरी भारत की कृषि तकनीक पर लिखे गये अपने लेख में यह ठीक कहा है कि हल के बारे में एक-वचन में ही विवरण देना समीचीन नहीं कहा जा सकता। उन्होंने छोटे और बड़े दो प्रकार के हलों के प्रचलन का उल्लेख मध्यकाल के सम्बन्ध में किया है। पर पूर्व मध्यकाल के साक्ष्यों से भी हमें मोटे रूप में तीन प्रकार के हलों के प्रमाण मिलते हैं। एक तो सामान्य प्रकार का हल था

---

1. बीसवीं शताब्दी के प्रारम्भ में ए०एन० मुकर्जी ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों में हल के वजन पर आंकड़े एकत्रित किया था। इनके अनुसार बंगाल में सवा मन का हल होता था, जिसे छोटे बैल खींचते थे। यहाँ की उपजाऊ मिट्टी की सतह को केवल हल के फाल से खरोंचना ही पड़ता था, और इस प्रकार गहरी जुताई की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। इसके विरुद्ध बुन्देलखण्ड की सख्त मिट्टी में साढ़े तीन मन के हल की आवश्यकता पड़ती थी। ए०एन० मुकर्जी, हैण्ड-बुक ऑफ इंडियन ऐग्रिकल्चर, कलकत्ता, 1915, पृ०93, 99.

   बेडन पावेल ने भी उसी काल में पंजाब में भारी प्रकार और हल्के प्रकार के हलों का होना बताया है।

2. हरबंस मुखिया, असली भारत, वर्ष 12, अंक 9, जून 1991, (किसान ट्रस्ट एम -। मैगनन हाउस-।।, कम्युनिटी सेन्टर, कर्मपुरा, नई दिल्ली, से प्रकाशित) पृ०24.

जिसके उल्लेख हमें साहित्यिक स्रोतों एवं अभिलेखों में मिलते हैं। दूसरा बड़े प्रकार का हल था। जिसका बृहद् हल के रूप में एक उल्लेख हमें चाहमान विग्रहराज के हर्ष प्रस्तर-लेख[1] (विक्रम संवत् 1030) में मिलता है। यह अभिलेख जयपुर से 60 मील उत्तर-पश्चिम राजस्थान के एक ग्राम से प्राप्त हुआ था। जयपुर-अजमेर के क्षेत्र में भूमि-संरचना की दृष्टि से जोतने के लिये बड़े हलों की आवश्यकता रही होगी। कुछ अभिलेखों में हमें हल-दण्ड[2] (हल के सम्बन्ध में देय) का उल्लेख मिलता है और कुछ में हलिका-कर[3] (हलिका के सम्बन्ध में देय) का। इन साक्ष्यों से यह लगता है कि गुप्त-काल से लेकर आगे सामान्य हल से छोटे हल को कुछ क्षेत्रों में हलिका कहा जाता था। इस प्रकार मोटे तौर पर हल के निम्नलिखित तीन प्रकारों का प्रचलन रहा होगा--

(1) बड़ा हल (बृहद् हल)

(2) सामान्य हल

(3) हलिका[4] (छोटा हल)

---

1. ई० आई०, जिल्द 2, पृ० 116 और आगे। यहाँ बृहद् शब्द भूमि की बड़े हल की माप के अर्थ में आया है। पर इस बड़ी माप के अनुरूप भूमि-कर्षण के लिये बृहत् हल भी रहा होगा।
2. ई० आई०, जिल्द 33, डी०सी० सरकार, इंडियन एपिग्राफिक ग्लॉसरी, पृ० 125।
3. गुप्तों के सामन्त मध्य प्रदेश के उच्चकल्प नरेशों के कुछ लेखों में हलिका-कर का उल्लेख मिलता है- कार्पस इंस्क्रिप्शनम् इंडिकेरम्, जिल्द 3, पृ० 132; ई० आई०, जिल्द 19, पृ० 127।
4. जैसे सामान्य फाल को फालक कहते थे और छोटे को फालिका (कृषिपराशर, श्लोक 117) वैसे ही सामान्य हल को हल कहते रहे होंगे और छोटे हल को

पर यहाँ यह नहीं भूलना चाहिये कि हल का मूलभूत आकार-प्रकार लगभग सभी जगहों पर एक जैसा ही रहा होगा ।

उत्तरी भारत के मैदानी क्षेत्र में उर्वर मिट्टी में नीचे की नमी बर-करार रखने के उद्देश्य से गहरा खोदने वाले बड़े हल का प्रयोग लोग न करते रहे होंगे, और सामान्य या छोटे हल से केवल खेत की मिट्टी को खरोंच देते रहे होंगे । बड़े हल से गहरी जुताई करने से नीचे की मिट्टी के ऊपर आकर धूप में सूख जाने का डर रहता था । इस प्रकार ये हल भूमि और जलवायु को देखते हुये आवश्यकता के अनुरूप थे, न कि औद्योगिक पिछड़ेपन के परिचायक[1] । पर लगभग कुषाण काल से लेकर आगे के काल में हम साहित्य एवं कला में सिंहमुख हल का साक्ष्य पाते हैं[2] । इस सिंहमुख हल का प्रथम उल्लेख बलराम के एक आयुध के रूप में हरिवंश में मिलता है । लगभग शुंग-कुषाण काल से हम बलराम के आयुध के रूप में सिंहमुख हल का चित्रण पाते हैं । सिंहमुख हल से स्पष्ट ही ऐसे हल का संकेत मिलता है जिसकी भूमि-विदारण-क्षमता विशेष रूप की रही होगी । यहाँ बड़े हल का ही संकेत मिलता है । ऐसा लगता है कि कुषाण-काल से लेकर बाद के काल में, जिसमें पूर्व मध्यकाल भी सम्मिलित है, नई भूमि पर कृषि के विस्तार के क्रम में बड़े हलों की आवश्यकता विभिन्न क्षेत्रों में बढ़ी होगी ।

---

1. दृष्टव्य, हरबंस मुखिया, ऊपर उद्धृत, पृष्ठ 23,।

2. एन० पी० जोशी, आइकोनोग्राफी ऑफ बलराम, अभिनव पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1979, पृ० 117, चित्र । फलक 6 ।

जिन क्षेत्रों में प्राय: सामान्य एवं छोटे हलों से ही समुचित जुताई हो जाती थी, उनमें भी जंगल और खर-पतवार साफ कर नई अकृष्ट भूमि को तोड़ने के लिये बड़े हलों की आवश्यकता रही होगी । पूर्व मध्यकाल के पहले कुषाण एवं गुप्त काल में सिंहमुख हल का लगभग वास्तविक चित्रण मिलता है, जिसमें फाल से लेकर ऊपर हल-शिखा तक के भाग को सिंह के रूप में इस तरह प्रदर्शित किया जाता था कि पिछले दोनों सटे हुये पैर फाल के स्थान पर दिखाये जाते थे । पर पूर्व मध्यकाल में इस प्रकार का वास्तविक चित्रण नहीं मिलता है ।

कृषि के अन्य उपकरण

कोटिश[1], या लोष्ट-भेदन – इसे आजकल हेंगा, कहते हैं । यह बैलों द्वारा मिट्टी के बड़े ढेलों को तोड़ने के लिये चलाया जाता रहा होगा ।

खनित्र[2] – यह फावड़ा था, जो भूमि खोदने के काम आता था ।

दात्र, या लवित्र[3] – यह हँसिया था । इससे मुख्य रूप से फसल की कटाई की जाती थी । हेमचन्द्र (12वीं श0) के अभिधानचिन्तामणि में वण्ट एवं मत्य शब्द हँसिया के बेंट के लिये दिये गये हैं[4] । ये शब्द इस अर्थ में पहले के कोशग्रन्थ अमरकोश में नहीं मिलते । हँसिया का बेंट लकड़ी का बनता रहा होगा ।

---

1. अमरकोश, 2.9.12.
2. वही, 2.9.12.
3. वही, 2.9.13.
4. अभिधानचिन्तामणि 3.556.

कुद्दाल[1] - यह कुद्दाल थी । इससे खेत गोड़ते थे । हर्षचरित में मिलता है कि जंगलों के आदिवासी बिना हल का प्रयोग किये कुदाल से ही जमीन गोड़कर बीज बोते थे तथा अन्न उत्पन्न करते थे[2] । कुद्दाल, हँसिया और फावड़े लोहे के बनते थे । हेंगा लकड़ी का पाटा होता था जो आजकल भी प्रयोग में लाया जाता है । हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि[3] में कुद्दाल का पर्यायवाची शब्द गोदारण भी मिलता है । पर पहले के कोशग्रन्थ अमरकोश {2·9·14} में गोदारण शब्द हल का एक पर्यायवाची बताया गया है ।

तितउ[4] (चलनी)— इससे अनाज को चाला जाता था ।

मदिका, मयिका, या मइअ

कृषिपराशर में मदिका {श्लोक 118}[5] या मयिका {श्लोक 182} का उल्लेख मिलता है । जी० पी० मजूमदार एवं सुरेशचन्द्र बनर्जी के अनुसार बंगाली शब्द "मइ" के अर्थ में ही ये शब्द प्रयुक्त लगते हैं । यह "मइ" खेतों को सम करने

1· श्री महेश्वरसूरि प्रणीत विश्वप्रकाशकोश {शक संवत् 1033 में यह पूर्ण हुआ} पृ० 157, चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी 1983, श्लोक 108 {कुद्दालो भूमिदारणे}; अभिधानचिन्तामणि 3·556·

2· हर्षचरित, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1912, 7·227—कुद्दालप्रायकृषिभिः ।

3· गोदारणं तु कुद्दालः- अभिधानचिन्तामणि, 3·556·

4· अमरकोश, 2·9·26·

5· कृषिपराशर की एक पाण्डुलिपि में इस श्लोक में मदिका की जगह मयिका का उल्लेख मिलता है । वही, पृ० 30, पादटिप्पणी 10·

के लिये प्रयोग किया जाने वाला हेंगा है[1]। मदिका या मयिका को 9 हस्त की बताया गया है (श्लोक 118)। कृषिपराशर (श्लोक 182) में "मयिका-दान" का बड़ा महत्त्व बताया गया है। इसके अनुसार बीज बोने के बाद मयिका चलाकर खेत को सम किया जाता था और यह कहा गया है कि मयिका चलाने के अभाव में बीजों से धान्य के पौधे नहीं उगते (श्लोक 182)।

जैन-ग्रन्थों में इस उपकरण के लिये "मइअ" शब्द मिलता है। इसका उल्लेख प्रश्नव्याकरण तथा दशवैकालिक (7·28) आदि में प्राप्त होता है[2]। इसे बोये हुये बीज के आच्छादन के लिये प्रयोग में लाया जाने वाला एक काष्ठमय उपकरण बताया गया है[3]।

स्तम्बघ्न-- अमरकोश (3·2·35) में स्तम्बघ्न, स्तम्बघन शब्द मिलते हैं। पाणिनि की अष्टाध्यायी (3·3·183) में कुदाली को और पतंजलि के महाभाष्य में कुल्हाड़ी को स्तम्बघ्न बताया गया है[4]। पर अमरकोश में ये दोनों शब्द खुरपे के लिये प्रयुक्त किये गये लगते हैं। अमरकोश पर अवधी और भोजपुरी क्षेत्र के अठारहवीं शताब्दी के टीकाकार कृष्णमित्र के अनुसार इस उपकरण से तृण

1· कृषिपराशर, ग्लॉसरी, पृ0 1·

2·. हीरालाल आर0 कपाडिया, दि इण्डियन हिस्टारिकल क्वार्टरली, जिल्द 10, पृ0 798·

3· पाइय-सद्दमहण्णवो, पृ0 660·

4· प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पतंजलिकालीन भारत, पृ0 256·

आदि गुच्छ काटे जाते थे[1]। इससे यह स्पष्ट है कि उपर्युक्त दोनों शब्द अमरकोश में खुरपे के लिये प्रयुक्त किये गये हैं।

अयोऽग्र या मुसल[2] - इससे अनाज कूटा जाता था। देशीनाममाला (2·1) में कंची शब्द मिलता है, जिसका अर्थ हेमचन्द्र ने मुसल के मुख पर लगाया जाने वाला लौह-वलय बताया है (मुसलमुखे लौहवलयम्)। इससे स्पष्ट है कि मुसल लकड़ी का होता था और उसके मुख, जिससे धान या अनाज कूटे जाते थे, पर लोहे का एक वलय लगा रहता था। इसी तरह के मुसल का प्रयोग आजकल भी गाँवों में होता है। देशीनाममाला में मुसल के लिये चार शब्द मिलते हैं:-

(1) अवहडं (1·32), (2) चेलुंपं (3·11),

(3) पच्चवरं (6·15), (4) पच्चेडं (6·15)।

उदूखल[3] या उलूखल - इसमें रखकर अनाज कूटा जाता था। हेमचन्द्र की देशीनाममाला (1·26) में इसके लिये दो शब्द प्रयुक्त किये गये हैं--

(1) अवअण्णो, (2) अवहण्णो

इससे यह लगता है कि विभिन्न क्षेत्रों की देश्य भाषाओं में इसके विभिन्न नाम

1· स्तम्बस्तृणादिगुच्छो हन्यते उन्मूल्यते येन--

अमरकोश, सम्पादक सत्यदेव मिश्र, वितरक इन्दिरा प्रकाशन पटना, 1972·

2· अमरकोश, 2·9·25

3· अमरकोश, 2·9·25·

रहे होंगे । देशीनाममाला[1] की ग्लॉसरी में पी०वी० रामानुजस्वामी ने उदूखल को लकड़ी का बनाया जाने वाला बताया है ।

शूर्प, प्रस्फोटन[2] - इससे अनाज फटका जाता था । हेमचन्द्र (12वीं श०) की देशीनाममाला (6•56) में शूर्प्प के लिये पूरणं शब्द आता है । शूर्प्प का प्रयोग ओसाने के लिये भी किया जाता था[3] ।

मेधि[4] - यह एक लकड़ी का खम्भा होता था, जो खलिहान में गाड़ा जाता था और जिसके चारों ओर घूमकर बैलों द्वारा अनाज दाँया जाता था ।

कुलिय - जैन-ग्रन्थ प्रश्नव्याकरण सूत्र के अनुसार यह एक प्रकार का हल बताया गया है[5] । इसका समीकरण "कुलिअ" शब्द से किया जा सकता है जिसका उल्लेख अणुओगदारसुत्त में खेत की घास काटने के छोटे काष्ठ-विशेष के रूप में मिलता है[6] । निशीथचूर्णि में भी कुलिय को एक प्रकार का हल बताया गया है[7] । पर तत्वार्थाधिगमसूत्र पर श्री अकलंक की व्याख्या में कुलिय को हल से भिन्न एक उपकरण बताया गया है[8] । इस उपकरण के आकार-प्रकार एवं प्रयोग के विषय में कुछ पता नहीं चलता है । पर अणुओगदारसुत्त के उपर्युक्त साक्ष्य से यह पता

1• देशीनाममाला, संपादक आर०पिशेल, द्वितीय संस्करण, विजयानगरम्, 1938•

2• वही, 2•9•26•

3• द्रष्टव्य आगे ।

4• अमरकोश, 2•9•15; अभिधानचिन्तामणि,3•557 ।

5• पाइअसद्दमहण्णवो, पृ० 256•

6• वही, पृ० 256•

7• मधु सेन, ए कल्चरल स्टडी ऑफ निशीथचूर्णि, पृ० 235•

8• अच्छेलाल, प्राचीन भारत में कृषि, पृ० 170, पादटिप्पणी 7•

चलता है कि यह घास काटने का उपकरण था, और निशीथचूर्णि के साक्ष्य से यह अनुमान लगाया जा सकता है कि इसे हल की भाँति बैल खींचते थे ।

जिनदास गणि (17वीं शताब्दी) की निशीथचूर्णि में हल, हँसिया आदि के अतिरिक्त कृषि के अन्य उपकरणों में परशु (फरसा), कुहाड (कुठार-कुल्हाड़ा), कैंची (पिप्पलग), छुरिका (छुरिया) आदि का उल्लेख किया गया है[1]। काश्यपीयकृषिसूक्ति (श्लोक 265) में भी अन्य उपकरणों में शङ्कुल, क्षुद्रतलुक, खड्गक, क्षुरिका आदि का उल्लेख मिलता है ।

बैलगाड़ियाँ - बैलगाड़ियाँ भी कृषि के लिये एक उपयोगी साधन के रूप में थीं । इनका उपयोग खेतों में खाद डालने[2], कटी हुई फसलों को खलिहान तक ले जाने, आदि में होता था । ये बैलगाड़ियाँ बैलों द्वारा खींची जाती थीं[3]।

कृषि के उपकरणों की रक्षा

धर्मशास्त्र के अनुसार जो भृतक कर्षण आदि कृषि-कार्य करते थे उनका यह उत्तरदायित्व निश्चित किया गया था कि वे कृषि के उपकरणों की समुचित सुरक्षा करें । याज्ञवल्क्य-स्मृति (2·193) में आने वाले "भृत्यै रक्ष्य उपस्कर:" पद की व्याख्या में लक्ष्मीधर[4] (12वीं शताब्दी) ने अपने व्यवहारकाण्ड में

1· मधु सेन, ए कल्चुरल स्टडी ऑफ दि निशीथचूर्णि, पृ0 195·

2· हर्षचरित, 7·229·

3· वही, पूर्वोद्धृत पृष्ठ ।

4· व्यवहारकाण्ड, पृ0 403·

"उपस्कर" का अर्थ लाङ्गल, ~~आदि एवं~~ योक्त्र आदि उपकरण बताया है, जिनकी रक्षा का दायित्व कृषि-कर्मकरों का माना जाता था। व्यवहारकाण्ड की एक दूसरी पाण्डुलिपि[1] में "भृत्यै:" का अर्थ "हलवाहकादिभि:" बताया गया है, जो बाद के धर्मशास्त्र ग्रन्थ चण्डेश्वर के विवादरत्नाकर में भी मिलता है।[2] इससे स्पष्ट है कि कृषिकर्मकरों में हलवाहक विशेष उल्लेखनीय था।

बैल

कृषि-क्रिया में बैलों का विशेष महत्त्व था। उनका उपयोग कर्षण, वपन, मणनी आदि कार्यों में होता था। बैलों के समुचित पालन-पोषण, उनकी स्वास्थ्य-रक्षा, उनके रोगों के उपचार, तथा उनके लक्षण एवं चुनाव पर पूर्व मध्यकाल में विशेष ध्यान दिया गया।

कृषिपराशर के अनुसार, बैलों को स्वस्थ रखने के लिये उन्हें गुड़ (गुडक), यवस (चारा), अन्य पोषण, एवं लवण देना चाहिए, और सुबह-शाम स्वतन्त्रता-पूर्वक चरने देना चाहिए (श्लोक 86)। इस ग्रन्थ में बैलों एवं गायों के लिये सुदृढ़ एवं पर्याप्त जगह वाले बाड़े बनाने एवं उसकी सफाई पर विशेष बल दिया गया है (श्लोक 87 और आगे)। इसके अनुसार सरिया या बाड़े में गोबर तथा गोमूत्र की गन्दगी न होनी चाहिए, तथा रात्रि में प्रकाश की भी व्यवस्था

---

1. वही, पूर्वोद्धृत पृष्ठ, पादटिप्पणी 2.

2. वही, पूर्वोद्धृत पृष्ठ, पादटिप्पणी 2.

होनी चाहिए। बाड़े को ज्योतिष के आधार पर बनाने का विधान किया गया है। यह भी बताया गया है कि कुछ कालों में, उदाहरणार्थ जब सूर्य सिंह राशि में हो, ~~तब~~ बाड़े का निर्माण नहीं करना चाहिये, क्योंकि वह गायों के लिये बहुत अनिष्टकर होता है। गायों और बैलों के स्वास्थ्य की दृष्टि से निम्नलिखित कार्यों को वर्जित किया गया है:--

(1) जिस पानी से चावल धोया गया है उसे बाड़े में फेंकना।

(2) चावल की माड़ को बाड़े में फेंकना।

(3) जिस पानी से मछली धोयी गयी हो उसे बाड़े में फेंकना।

(4) कपास को बाड़े में साफ करना।

(5) मुसल रखना।

(6) जूठा भोजन बाड़े में फेंकना।

(7) बकरी को बाड़े में बाँधना, इत्यादि।

<u>कर्षण के पशुओं की स्वास्थ्य-रक्षा, चिकित्सा एवं पोषण पर ध्यान</u>

प्राचीनकाल से ही पशुधन के पालन-पोषण एवं उनकी उचित देख-भाल पर काफी ध्यान दिया जाता था। गायों के बछड़े बड़े होकर वृषभ होते थे और भूमि-कर्षण में व्यापक रूप से उनका उपयोग होता था। अत: उनके प्रति विशेष ध्यान देना स्वाभाविक था। पशुओं के समुचित पोषण, उनकी स्वास्थ्य-रक्षा एवं उनकी चिकित्सा के क्षेत्रों में गुप्त काल से लेकर 1200 ई० तक के काल में काफी प्रगति दृष्टिगोचर होती है। गोचिकित्सा का प्रकरण हमें सबसे पहले गुप्त काल के ग्रन्थ <u>विष्णुधर्मोत्तर पुराण</u> (2·43·1-27) में मिलता है। इसमें

गाय, बैल आदि पशुओं के सींग, कान, आँख, दाँत, जीभ, गला, पित्त, मूत्राशय, हड्डी टूटने आदि के प्रमुख रोगों की चिकित्सा के लिये लगाने और खिलाने की औषधियाँ बताई गई हैं। नमक को पशुओं के कब्ज, उदर-शूल एवं भूख की कमी के रोगों के प्रतिरोधक के रूप में देने की सलाह दी गई है (विष्णुधर्मोत्तर, 2·43·28) । सरसों की खली को सामान्य रूप से पशुओं के लिये शक्ति-संवर्धक एवं बलवर्धक के रूप में माना गया है । इसके पश्चात् पूर्व मध्यकाल में रचित अग्निपुराण (292·23-35) में भी विभिन्न प्रमुख रोगों की औषधियाँ दी गई हैं । इसमें माष, तिल, गोधूम, दूध एवं घृत की पिण्डी में लवण मिलाकर बछड़ों को पुष्टिदायक के रूप में देने को कहा गया है (वही 292·32) । पशुओं को ग्रहों के कुप्रभाव आदि से फैलने वाली बीमारियों से बचाने के लिये उनके बाड़े में देवदारु, वचा, मांसी, गुग्गुल, हिङ्गु (हींग) और सरसों के बीजों को मिलाकर समय-समय पर उनके धुयें से धूप देने की विधि बतायी गई है (वही 292·33·34) ।

11वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में लिखे भोजराज के राजमार्तण्ड नामक आयुर्वेद-ग्रन्थ में हम गौतम के गवायुर्वेद नामक ग्रन्थ के उद्धरण पाते हैं[1] ।

1· आर०सी० मजूमदार, ए कंसाइज हिस्ट्री आफ साइंस इन इंडिया में, पृ० 254·

यह ग्रन्थ अब उपलब्ध नहीं है। पर राजमार्तण्ड के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि यह गोजातीय पशुओं की बीमारियों एवं उनके उपचार पर लिखा गया एक स्वतन्त्र ग्रन्थ था[1]। इसकी रचना पूर्व मध्यकाल में भोज के काल (11वीं शताब्दी का पूर्वार्ध) से लगभग दो या एक शताब्दी पहले हुई होगी, क्योंकि भोज के पहले के किसी ग्रन्थ में इसका उद्धरण नहीं प्राप्त हुआ है।

इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में गोजातीय पशुओं के रोगों तथा उनकी चिकित्सा के ज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रगति परिलक्षित होती है। इस युग में कृषि-कार्य में बैलों की भूमिका को दृष्टि में रखते हुये यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह प्रगति पशुधन के सम्वर्धन एवं कृषि के विकास में सहायक सिद्ध हुई होगी। इसी काल में जयदत्त सूरि एवं नकुल द्वारा क्रमशः अश्ववैद्यक एवं अश्वशास्त्र नामक ग्रन्थों की रचना हुई, और पालकाप्य ने हस्त्यायुर्वेद नामक ग्रन्थ की रचना किया[2]। पर कृषि का सम्बन्ध विशेष रूप से गोजातीय पशुओं से ही था। पूर्व मध्यकाल के कुछ धर्मशास्त्र ग्रन्थों में गोचिकित्सा में प्रमाद करने के कारण गाय के मृत हो जाने को अपराध माना गया है, और उसके लिये प्रायश्चित्त का विधान किया गया है[3]। पर गोचिकित्सा में अतिप्रयत्न करने पर भी यदि ऐसी विपत्ति आ जाती थी तो वह अपराध

---

1. वही, पृ० 254-55.
2. वही, ~~समरेन्द्र मजूमदार, ए कन्साइज हिस्ट्री ऑफ साइंस इन इण्डिया में, नई दिल्ली, 1971~~, पृ० 255.
3. मनुस्मृति (11.115) के एक श्लोक की व्याख्या में मेधातिथि (9वीं शताब्दी) ने संवर्त का उद्धरण देते हुये इस मत का प्रतिपादन किया है।

की कोटि में नहीं माना जाता था[1]। पराशरस्मृति (9·46) के अनुसार, यदि गोचिकित्सक (भिषक्) के गलत उपचार से बहुत सी गायें मर जाती थीं तो उसके लिये प्रायश्चित्त करना पड़ता था। अभिशास्त्र का यह दृष्टिकोण भी पशु-धन के संवर्धन की ओर संकेत करता है, जो कृषि के विकास में सहायक रहा होगा।

वराहमिहिर ने बैलों के शरीर की बनावट एवं उनके रूप-रंग के आधार पर उनके शुभ-अशुभ लक्षणों का विस्तृत उल्लेख किया है। उनके अनुसार, स्थूल गोपर एवं स्थूल सींग वाला बैल शुभ नहीं होता[2]। जिस बैल की देह में शशवर्ण के फूल की भाँति चिह्न हों[3], जिसका श्वेत एवं लाल रंग मिश्रित वर्ण हो, एवं जिसकी बिल्ली के समान आँखें हों वह भी शुभ नहीं होता। कोमल, ताम्रवर्ण के मिले हुये समान होंठ वाले, कटि में छोटे माँस-पिंड वाले, ताम्रवर्ण के तालु और जीभ वाले, छोटे पतले एवं ऊँचे कान वाले, सुन्दर उदर वाले, सीधी जंघा वाले, ताम्रवर्ण के मिले हुये खुर वाले, सुदृढ़ वक्ष वाले, बड़ी थूही वाले, स्निग्ध एवं पतली त्वचा एवं रोम वाले, ताम्रवर्ण की सींग एवं शरीर वाले, पतली एवं भूमि को स्पर्श करने वाली पूँछ वाले, सिंह के समान कंधों वाले, सुन्दर गति वाले, एवं पतले व छोटे गलकम्बल वाले बैल अच्छे बताये गये हैं[4]।

1· वही।

2· बृहत्संहिता, गोलक्षणाध्याय 7·

3· वही, 8·

4; वही, 10·12·

कृषिपराशर में बैलों के लक्षण के सम्बन्ध में केवल दो श्लोक (134, 141) मिलते हैं। शार्ङ्गधरपद्धति (श्लोक 280-89) में बैलों का वर्गीकरण समाज की चार मुख्य जातियों के अनुरूप किया गया है:-

(1) ब्राह्मण जाति के वृषभ श्वेताङ्ग, कुछ उन्नत अंगवाले, मंजु नेत्र वाले, तथा गम्भीर नाद करने वाले होते हैं।

(2) क्षत्रिय जाति के वृषभ लाल, कुछ अधिक ऊँचे, तेजबल से युक्त, तथा गम्भीर नाद करने वाले होते हैं।

(3) वैश्य जाति के वृषभ श्वेतरक्त तथा मध्यम ऊँचाई के होते हैं।

(4) शूद्र जाति के बैल काले, एवं कोपवेग से ताड़ित होते हैं, और अधिक ऊँचे नहीं होते हैं।

इन सभी जातियों के वृषभों को प्रशस्त माना गया है। वृषभों के वर्गीकरण का यह नया आयाम पूर्व मध्यकाल एवं मध्यकाल की स्थिति को द्योतित करने वाले इसी ग्रन्थ में सर्वप्रथम मिलता है। इसी सन्दर्भ में और आगे यह बताया गया है कि न अधिक बड़े और न कृष, सींग-वैषम्य से हीन, न अधिक कृश और न अधिक दीर्घ खुरवाले, न अधिक स्थूल और न कृश शरीर वाले, तथा शुभ गति एवं सूक्ष्म रोमावली वाले वृषभ उत्तम एवं शुभ होते हैं (श्लोक 290-295)। पर वृषभ के लक्षण के सम्बन्ध में भी विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित मान्यताओं में कुछ अन्तर रहे होंगे। उदाहरणार्थ, कृषिपराशर,[1] जिसकी रचना

---

1. सर्वशुक्लास्तथा वर्ज्यः। वही, श्लोक 141.

जंगल में हुई, में सर्वांग-श्वेत वृषभ वर्जित बताया गया है । पर, जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, काश्यपीयकृषिसूक्ति में इस प्रकार के वृषभ [illegible] (ब्राह्मण) जाति के माने गये हैं। इसी प्रकार कृषिपराशर (श्लोक 134) में हल-वाहन के लिये कृष्ण, लाल एवं कृष्णलोहित (काले एवं लाल) रंग के वृषभों को श्लाघ्य बताया गया है । पर काश्यपीयकृषिसूक्ति में ऐसी बात नहीं मिलती[1] । पराशर स्मृति (2·3) में मिलता है कि निम्नलिखित प्रकार के बैलों को विप्र द्वारा कर्षण में नहीं लगाया जाना चाहिये—

(1) हीनाङ्ग (जिसका कोई अंग हीन या दोषयुक्त हो)

(2) व्याधित (जिसे कोई व्याधि हो)

(3) क्लीव (दुर्बल)

(4) क्षुधित (भूखा)

(5) तृषित (प्यासा)

(6) श्रान्त (थका हुआ)

कृषिपराशर (श्लोक 141) में एक निरर्थक कोटि वाले, कटे कान एवं पूँछ वाले, तथा सर्वाङ्ग-श्वेत बैल को कर्षण कार्य में वर्जित बताया गया है । कृषिपराशर (श्लोक 96) में कई बैलों[2] द्वारा हल चलाने की सलाह दी गई है । 8 बैलों द्वारा जोते जाने वाले हल को समीचीन बताया है । इसके अनुसार

1· द्रष्टव्य ऊपर

2· उत्तर वैदिक काल के साहित्य में भी हम कई बैलों द्वारा हल चलाये जाने का उल्लेख पाते हैं ।

6 बैलों द्वारा जोते जाने वाला हल केवल सामान्य व्यवहार के लिये होता है तथा 4 एवं 2 बैलों द्वारा जोते जाने वाले हल क्रमशः नृशंसों एवं गवाशिन लोगों (बैलों के खाने वालों अर्थात् उन्हें अधिक कष्ट देने वालों) के होते हैं ।

पराशरस्मृति में दो से अधिक बैलों को जोत कर खेती करने का विधान ब्राह्मणों के लिये किया गया है।[1] इसके अनुसार दो ~~[illegible]~~ बैलों को पूरे दिन जोतकर ब्राह्मण को कृषिकर्म नहीं करना चाहिए। यदि आठ बैल हों तो प्रत्येक दो बैलों की जोड़ी को एक-एक प्रहर तक दिन में जोतना चाहिए।[2] इसे धर्महल (अष्टगव्यं धर्महलं)[3] की संज्ञा दी गयी है ।

कृषि के अन्य साधन

कृषि के अन्य साधनों के अन्तर्गत सिंचाई के साधनों- नोट, कूपतुला, अरघट्ट आदि - को भी परिगणित किया जा सकता है । इनका विवरण सिंचाई के अध्याय में दिया गया है ।

---

1. पराशरस्मृति 2.8.
2. वही, 2.9,10.
3. वही, 2.8.

कृषि की विधियाँ एवं कृषि-कार्य

कृषि की मुख्य विधियों में हल-बैलों द्वारा खेत को जोता-बोया जाता था। कृषि पर लिखे गये कृषि-पराशर एवं काश्यपीय कृषिसूक्ति ग्रन्थों से तथा अन्य स्रोतों से भी इस मुख्य विधि की जानकारी प्राप्त होती है। पर बाण (7वीं शताब्दी) ने अपने हर्षचरित में विन्ध्याटवी में रहने वाले आदिवासियों द्वारा कुदाल से गोड़कर खेती करने का उल्लेख किया है। यह कृषि की भिन्न प्रणाली थी। जंगल के आदिवासियों को या तो हल का ज्ञान नहीं था, अथवा वहाँ की प्राकृतिक परिस्थितियों में हल का प्रयोग नहीं हो सकता था। यह भी हो सकता है कि किसी पूर्व परम्परा के प्रभाव से वे हल का प्रयोग न करते रहे होंगे।

भू-कर्षण

कृषि-सम्बन्धी प्रमुख कार्यों में सबसे पहले भू-कर्षण या क्षेत्र-कर्षण था। वराहमिहिर की बृहत्संहिता (19·8) से ज्ञात होता है कि खेत कृत्रिम सीमाओं (काँटेदार झाड़ियों के बाड़ों, मेड़ आदि) से एक दूसरे से अलग किये जाते थे। क्षेत्र-कर्षण के लिये हलवाहक फालयुक्त हल को अधिकतर बैलों द्वारा खेत में खिंचवाता था[1]। भोज (11वीं शताब्दी) के युक्तिकल्पतरु[2] में यह कहा गया

1· उदाहरणार्थ, द्रष्टव्य अजयमित्र शास्त्री, इंडिया एज सीन इन दि बृहत्संहिता आफ वराहमिहिर, पृ० 26।·

2; तथा पर्वेषु पर्वेषु कर्षणाद्भूगुणक्षय: । वही, पृ० 6, श्लोक 41·
एकस्यां गुणहीनायां कृषिमन्यत्र कारयेत् ।
वही, पृ० 6, श्लोक 42·
यह श्लोक खण्डित है और इसकी पहली पंक्ति नहीं दी जा सकती है।

है कि किसी भूमि पर प्रति वर्ष कर्षण करते रहने से उसकी उर्वरा-शक्ति क्षीण हो जाती है, और ऐसा हो जाने पर अन्यत्र कृषि करना चाहिए। इससे यह संकेत मिलता है कि उपर्युक्त स्थिति में भूमि की उर्वरा शक्ति क्षीण हो जाने पर या तो उसको कुछ समय के लिये परती छोड़ दिया जाता था या उसे एक दम छोड़ दिया जाता था। इसी सन्दर्भ में प्रस्तुत ग्रन्थ के सम्पादक ईश्वरचन्द्र शास्त्री[1] ने पादटिप्पणी में बृहत्पराशरीय नामक कृषि-ग्रन्थ का मत दिया है, जिसके अनुसार कृष्ट भूमि की शक्ति की परिवृद्धि के लिये पर्युर्युसित, गोमय, पङ्क, करीष-भस्म आदि भूमि में डालना चाहिए। काश्यपीयकृषिसूक्ति में जल की सुविधा वाली उर्वर भूमि (सारक्षेत्रे नित्यजले)[2] में सर्वत्र प्रतिवर्ष दो फसल उत्पन्न करने की सलाह दी गई है[3]। इस प्रकार खेत को परती या पड़ौती छोड़ने की बाध्यता से छुटकारा पाया जा सकता था, और इससे उत्पादन-वृद्धि हो सकती थी। मुगल काल में भी, जैसा कि आईने-अकबरी से ज्ञात होता है पड़ौती को क्रमश: निरन्तर बोई जाने वाली पोलज भूमि की तरह बनाने का आदर्श मिलता है[4]। यहाँ पोलज शब्द

---

1. युक्तिकल्पतरु, पृ0 6, प्रथम पादटिप्पणी।
2. काश्यपीयकृषिसूक्ति, श्लोक 511.
3. प्रत्यब्दमेवं सर्वत्र द्वितीयावृत्तिकृषिक्रिया—वही, श्लोक 512.
4. हरबंस मुखिया, "मध्यकालीन उत्तरी भारत की कृषि तकनीक" असली भारत, वर्ष 12, अंक 9, जून 1991, पृ0 28.

महत्त्वपूर्ण है । हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी) की देशीनाममाला (6·63) में भी हम इसी के समान "पोलच्चा" शब्द पाते हैं, जिसका अर्थ खेटित (कृष्ट) भूमि बताया गया है । यह भी निरन्तर जोती और बोई जाने वाली भूमि का बोधक प्रतीत होता है । मुगल काल तक निरन्तर बोई जाने वाली भूमि की प्रथा का अधिक विस्तार हो गया होगा ।

भारतीय कृषक फसलों के हेर-फेर, परती, (खिल) एवं खाद की उपयोगिता को भली भाँति जानते थे । पर दो खेतों या तीन खेतों की अदला-बदली एवं फसलों के परिवर्तन के आधार पर मध्ययुगीन योरप की भाँति किसी प्रकार के कृषि-चक्र की व्यवस्था के प्रमाण नहीं मिलते । उपयुक्त ऋतु एवं काल में भू-कर्षण शुभ मुहूर्त में परम्परागत धार्मिक अनुष्ठानों के साथ प्रारम्भ किया जाता था । हल को देवता मान कर उसके लिये सीर यज्ञ का विधान विष्णु-पुराण (5·10·37) में मिलता है । कृषिपराशर[1] के अनुसार भू-कर्षण के पहले हल-प्रसारण अनुष्ठान, इन्द्र, शुक्र, पृथु, राम[2] एवं पराशर का स्मरण करके तथा अग्नि, ब्राह्मणों, पृथ्वी, प्रजापति एवं अन्य देवों की पूजा करके, प्रारम्भ करना चाहिए । इस अवसर पर फाल को तेज कर उसमें शहद लगाने तथा बैलों

1· कृषिपराशर, श्लोक 131,133·

2· राम शब्द यहाँ बलराम के लिये प्रयुक्त लगता है, जो कृषि से सम्बन्धित एक महत्त्वपूर्ण देवता माने जाते थे, और लाङ्गल एवं मुसल जिनके आयुध थे ।

के मुख पर मक्खन एवं घी लगाने का विधान किया गया है। काश्यपीयकृषिसूक्ति ॥श्लोक 270 एवं आगे॥ में लाङ्गलार्चन, क्षेत्र अथवा भूमि के पूजन, दिक्देवों एवं सूर्य की स्तुति, तथा वृषभराज की पूजा का विधान किया गया है। इस प्रकार अलग-अलग क्षेत्रों में कुछ हद तक भिन्न-भिन्न प्रकार के धार्मिक अनुष्ठानों की परम्पराएँ रही होंगी।

कृषिपराशर[1] में भूकर्षण प्रारम्भ करने के पहले हल-प्रसारण अनुष्ठान हेतु शुभ नक्षत्र, दिन, तिथियाँ एवं लग्न राशियाँ निम्नवत् बताये गये हैं:--

॥1॥ नक्षत्र- स्वाती, उत्तरफाल्गुनी, उत्तराषाढ, उत्तराभाद्रपद, रोहिणी, मृगशिरा, मूल, पुनर्वसु, पुष्य, श्रवण, एवं हस्त।

॥2॥ दिन-सोमवार, बुधवार, गुरुवार एवं शुक्रवार।

॥3॥ तिथियाँ- 2,3,5,7,10 एवं 13.

॥4॥ लग्नराशियाँ- वृष, मिथुन, कन्या, वृश्चिक, धनु एवं मीन।

इसके अतिरिक्त अशुभ दिनों, तिथियों एवं लग्नराशियों को भी, तज्जन्य अनिष्टों के साथ, निम्नवत् बताया गया है:[2]--

॥1॥ दिन- मंगलवार, शनिवार, इतवार।

इन दिनों कृषि प्रारम्भ करने से राजोपद्रव बताया गया है।

---

1. कृषिपराशर; श्लोक 121,122,124,127.
2. वही, श्लोक 123, 125, 126, 128, 129.

(2) तिथियाँ- 1- फसल का नाश।

4- कीड़ों से कृषि की क्षति।

6- विभिन्न प्रकार के विघ्न।

8- बैलों का नाश।

9- फसल का नाश।

12- वधबन्धन।

14- पति (क्षेत्रपति) का नाश।

15- (कुहू- अमावस्या)- कर्षक का नाश।

(3) लग्नराशियाँ- मेष- पशु का नाश।

कर्क- जल से उत्पन्न भय।

सिंह- सर्पभय।

तुला- प्राणसंशय।

मकर- शस्यनाश।

कुम्भ- चौरभय।

कृषिपराशर[1] के अनुसार हल-प्रसारण के उपरान्त भू-कर्षण प्रारम्भ किया जाता था। पर काश्यपीयकृषिसूक्ति[2] के अनुसार भूमिकर्षण ही कृषि का

---

1. वही, अँग्रेजी अनुवाद, पृ0 75, पादटिप्पणी।

प्रारंभिक कार्य था, जिसे शुभ निमित्त/ (शकुन) एवं शुभ लग्न (उस स्थान में पूर्व दिशा में उदय होने वाली राशि) के काल में करने की सलाह दी गई है ।

खेत को कई बार जोतना

धान्य के पौधों की समुचित वृद्धि एवं अच्छी उपज के लिये मिट्टी को मुलायम एवं उर्वर बनाना आवश्यक होता था । इसके लिये खेत को एक से अधिक-- दो या तीन बार भी जोतने के उल्लेख प्राचीन काल में मिलते हैं[1] । अमरकोश (2·9·9) में दो बार की जुताई के लिये द्वितीयाकृत, शम्बाकृत, द्विहल्य और द्विसीत्य, तथा तीन बार की जुताई के लिये त्रिगुणाकृत, त्रिहल्य और त्रिसीत्य शब्द मिलते हैं । केवल एक बार जोते हुये खेत के लिये सीत्य, कृष्ट तथा हल्य शब्द आते हैं[2] । भूमि के प्रकार, साधन एवं धान्य के प्रकार के अनुसार जोत की संख्या होती रही होगी । उदाहरणार्थ, गेहूँ का खेत तैयार करने के लिये आजकल भी एक से अधिक बार जुताई की जाती है ।

यद्यपि यह कहा जा सकता है कि प्राचीन काल में कभी-कभी तीन से अधिक बार भी जुताई की जाती रही होगी, पर उस काल के ग्रन्थों में तीन से अधिक बार जुताई करने का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता । खेत की बार या

1· पाणिनि की अष्टाध्यायी ,5·4·58;
पतंजलि का महाभाष्य, 5·4·59;
अच्छेलाल, प्राचीन भारत में कृषि, पृ0 71·

2· अमरकोश,2·9·8·

पाँच बार जुताई 6 या अधिक दिनों में करने का स्पष्ट उल्लेख हम काश्यपीय-कृषिसूक्ति[1] नामक ग्रन्थ में ही पाते हैं, जो पूर्व मध्यकाल एवं मध्यकाल की स्थिति का द्योतक है। इस प्रकार अधिक बार जुताई करने से उन फसलों (गेहूँ, गन्ना आदि) के उत्पादन में वृद्धि हुई होगी, जिसके लिये कई बार जुताई की आवश्यकता होती है। इनमें से गन्ना आदि नकदी फसलें रही होंगी।

बंगाल में प्रचलित खणा की कृषि-सम्बन्धी कुछ कहावतों से ज्ञात होता है कि विभिन्न फसलों के लिये खेत तैयार करने हेतु विभिन्न संख्या की जोत की आवश्यकता का स्पष्ट ज्ञान लोगों को था। ये कहावतें पूर्व मध्यकाल एवं मध्यकाल में कृषि की विधियों से सम्बन्धित लोकप्रचलित व्यावहारिक ज्ञान को द्योतित करती हैं। इस प्रकार खणा ने यह बताया है कि मूली, कपास एवं धान के खेतों को बोने से पहले क्रमशः 16, 8 एवं 4 बार जोतने की आवश्यकता पड़ती थी, और पान के खेत के लिये एक बार भी जुताई की आवश्यकता नहीं होती थी[2]। खणा की एक कहावत में यह भी मिलता है कि मूली के लिये खेत में कपास जैसी मुलायम मिट्टी की आवश्यकता होती थी, और ईख के लिये

---

1. एवं क्रमेण तत्क्षेत्रं चतुर्धा (त्रिधा) पंचधापि वा ।
   हलेन कर्षयित्वा षड्दिवसं त्वधिकं तु वा ।।
   काश्यपीय कृषिसूक्ति, श्लोक, 263.

2. राधारमन गंगोपाध्याय, ऐग्रिकल्चर ऐण्ड ऐग्रिकल्चरिस्ट्स इन ऐंशेंट इंडिया, पृ० 66.

खेत इतनी बार जोतना पड़ता था कि उसकी मिट्टी धूल की भाँति मुलायम बन जाती थी[1]। इसी प्रकार अन्य फसलों के सम्बन्ध में जोत की आवश्यक संख्या का ज्ञान उस काल में रहा होगा[2]। पर काफी लोग साधन के अभाव में अपने खेतों को इतनी अधिक बार न जोत पाते रहे होंगे।

खाद का प्रयोग

फसल को पौष्टिक आहार देने तथा पैदावार की वृद्धि के लिये उर्वरक पदार्थों (खाद) का प्रयोग कुछ हद तक प्राचीन काल में भी प्रचलित था। कुछ विद्वानों[3] के अनुसार शकृत, करीष जैसे उर्वरक वैदिक काल में भी प्रयुक्त होते थे। पर इस पर विवाद है[4]। कौटिल्य के अर्थशास्त्र[5] में हमें पौधों की वृद्धि के लिये गोबर (शकृत्), मछली (मत्स्य), हड्डी (गोऽस्थि) आदि का खाद के रूप में प्रयोग किये जाने का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। जिस गड्ढे में वृक्ष लगाये जाते थे उसमें घास और पत्तियों को जलाकर (गर्त्तदाह कर) भी खाद बनाने की विधि का उल्लेख मिलता है[6]।

---

1. वही, पूर्वोद्धृत पृष्ठ।
2. आज भी चने के खेत को तैयार करने के लिये एक या दो बार ही जोतना आवश्यक माना जाता है।
3. उदाहरणार्थ कीथ एवं मैकडॉनल, वैदिक इण्डेक्स, भाग 1, पृष्ठ 182.
4. अ.च्छेलाल, प्राचीन भारत में कृषि, पृ0 59.
5. अर्थशास्त्र, 2.24.24, 25.
6. वही 2.24.24.

छठीं शताब्दी में हमें खाद के प्रयोग का अपेक्षाकृत विस्तृत विवरण वराहमिहिर की बृहत्संहिता में मिलता है । इसमें हम भूमि को उपजाऊ बनाने के लिये सूखी (गोबर की) और हरी, दोनों प्रकार की खादों का उल्लेख पाते हैं। बृहत्संहिता (54·2) के वृक्षायुर्वेदाध्याय में कहा गया है कि भूमि को उपजाऊ बनाने के लिये पहले खेत में तिल बोना चाहिए, और फिर तिल के पौधों के पुष्पित हो जाने पर खेत को फिर जोत देना चाहिये (मृद्नीयात्)। इस प्रकार तिल के पौधे खेत में गिरकर सड़ते जाते थे और खाद का काम करते थे । खेतों को उपजाऊ बनाने की इस विधि का कुछ हद तक प्रचलन आज भी देखा जा सकता है । इसी सन्दर्भ में वराहमिहिर ने यह भी कहा है कि एक आढक तिल, दो आढक भेड़ और बकरी के मल, एक प्रस्थ जौ के चूर्ण और एक तुला (100 पल) गोमांस के चूर्ण के मिश्रण को एक द्रोण पानी में डाल कर उसे सात रातों तक सड़ाकर वृक्षों की जड़ में डालने से वनस्पतियों के वृक्षों तथा वल्लियों एवं लताओं के फलों की वृद्धि होती है ।[1]

यह विधि वृक्षों एवं लता-वल्लरियों के सन्दर्भ में ही बतायी गयी हैं । धान्य के उत्पादन में इसका प्रयोग कहाँ तक किया जाता था यह नहीं कहा जा सकता । बाण के हर्षचरित[2] के साक्ष्य से यह ज्ञात होता है कि अधिकांश कृषक सड़े हुये कूड़े-करकट एवं गोबर का प्रयोग खाद के लिये करते थे । इसमें मिलता

1· बृहत्संहिता, 54·17·18·

2· हर्षचरित, निर्णय सागर प्रेस बम्बई, तृतीय संस्करण ~~(1912)~~, 7·227, 229·

है कि कृषक वर्ष भर कूड़े-करकट को एक स्थान पर इकट्ठा करते थे और फिर उस ढेर को उठाकर खेतों में ले जाकर डाल देते थे । इसे ढोने के लिये बैलगाड़ियों का प्रयोग भी किया जाता था । पर सामान्य कृषक उसे स्वयं ले जाते रहे होंगे । खाद डालने के लिये कृषक उन खेतों पर विशेष ध्यान देते थे जिनकी उर्वरा शक्ति वर्ष में कई उत्पादनों के कारण प्रक्षीण हो जाती थी । ... विन्ध्याटवी के वन-ग्रामों का वर्णन करते हुये बाण ने लिखा है कि वहाँ के कृषक कड़ी भूमि को कुदाल से तोड़कर तथा उसमें खाद डाल कर उसे उपजाऊ बनाते थे[1] ।

अग्निपुराण[2] के अनुसार पेड़ में फूल एवं फल प्रचुर रूप से लगते हैं, यदि भूमि में जौ के चूर्ण, तिल और बकरी के मल को मांस के जल (धोवन) में मिलाकर लगातार सात रातों तक उसे खाद के रूप में डाला जाय । उसमें यह भी कहा गया है कि मछली के धोवन को पेड़ों पर छिड़कने से उनकी विशेष वृद्धि होती है[3] ।

कृषिपराशर के अनुसार खाद का प्रयोग

कृषिपराशर (श्लोक 109-111) के अनुसार माघ मास में गोबर के ढेर की पूजा कर उसे शुभ दिन एवं नक्षत्र में फावड़े से उठाना चाहिए । फिर उसे

---

1. वही पूर्वोद्धृत स्थल ।
2. अग्निपुराण, एम०एन०दत्त द्वारा अनूदित, जिल्द 2, पृ० 1038.
3. वही, पूर्वोद्धृत पृष्ठ ।

चूरा बनाकर एवं धूप में सुखाकर प्रत्येक खेत में एक गड्ढा बनाकर फाल्गुन मास में उसमें डाल देना चाहिए । इसके पश्चात् बीज बोने के समय उस खाद को गड्ढे से निकाल कर खेत में बिखेर देना चाहिए । कृषिपराशर[2] में कहा गया है कि बिना खाद के जो धान्य के पौधे बढ़ते हैं उनमें फल नहीं लगता: यह कथन खाद के महत्त्व का समुचित ज्ञान द्योतित करता है ।

गोबर के ढेर को माघ मास तक पड़ा रहने देने से उसके नाइट्रोजन यौगिक (compounds), जो उर्वरता के प्रमुख कारक होते हैं, का ह्रास कम होता था[3]। गोबर को सुखाने से उसका सक्रिय अमोनिया कम हो जाता था, जो वैसे बीजों एवं पौधों की मुलायम जड़ों के लिये हानिकारक हो सकता था[4]। गड्ढे में गाड़ने से खाद भूमि के अन्दर सड़ती थी । इससे उसकी खाद - मिट्टी बढ़ती थी, जो भूमि की उर्वरता को बढ़ाती थी[5]। यह ज्ञान लोगों का व्यावहारिक ज्ञान था, जो किसी वैज्ञानिक परीक्षण पर नहीं आधारित था ।

---

1. कृषिपराशर, श्लोक 110, (अंग्रेजी अनुवाद),
   राधारमन गंगोपाध्याय ने इस श्लोक में आये "गुण्डकरूपिणम्" का अर्थ छोटे-छोटे पिण्ड बनाना किया है, न कि चूरा करना ।
   ऐग्रिकल्चर ऐण्ड ऐग्रिकल्चरिस्ट्स इन ऐंशेंट इण्डिया, पृ0 57.
2. बिना सारेण यद्धान्यं वर्द्धते फलवर्जितम् ।
   - वही श्लोक 111.
3. राधारमन गंगोपाध्याय, ऐग्रिकल्चर ऐण्ड ऐग्रिकल्चरिस्ट्स इन ऐंशेंट इण्डिया, पृ0 58.
4. वही, पृ0 59.
5. वही, पृ0 59.

बीज स्थापन, बीज-संग्रहण एवं बीज-वपन

कृषिपराशर (श्लोक 157 और आगे) में बीज-स्थापन-क्रिया का विवरण मिलता है। इसका आधार व्यावहारिक ज्ञान ही था। इसके अनुसार, सभी बीजों को माघ या फाल्गुन के महीने में इकट्ठा कर उन्हें धूप में सुखाना चाहिए। बीज को साफ कर छोटी पुटिकाओं (पैकेटों) में रखना चाहिए। एकरूप बीजों को प्रचुर शस्य के लिये उपयुक्त माना गया है। बीजों को वल्मीक, गोस्थान, प्रसूतानिकेतन, गर्त आदि में नहीं रखना चाहिए, तथा उन्हें जूठन आदि के स्पर्श से बचाना चाहिए। यह भी कहा गया है कि घी, तेल, मक्खन, दीपक अथवा नमक बीजों पर नहीं रखना चाहिए। धुयें और वृष्टि से भी उन्हें बचाने के लिये कहा गया है। मिश्रित बीज को भी बोने योग्य नहीं माना गया है। अन्त में बीज के महत्त्व के सम्बन्ध में यह कहा गया है कि यदि बीज में बन्ध्यत्व होता है तो कृषक, खाद, खेत, बैल और वृष्टि भी बन्ध्यता को प्राप्त हो जाते हैं (श्लोक 166)।

पराशर ने बीजों के दो प्रकार बताये हैं-- एक तो वपन (बोने) के लिये होते हैं, और दूसरे रोपण (ट्रान्सप्लान्टेशन) के लिये (श्लोक 183)। काश्यपीय-कृषिसूक्ति (श्लोक 431) से ज्ञात होता है कि बड़े एवं समृद्ध किसान धान की रोपाई भृत्यों द्वारा पंक्तियों में (पंक्तिशः) कराते थे। इस ग्रन्थ में बीज के संग्रहण पर एक अलग अध्याय (श्लोक 340-407) मिलता है। इसमें कृषि करने वालों को युक्तिपूर्वक बीज के रक्षण करने की सलाह दी गई है

(श्लोक 349) । बीजों को 4 भागों में बाँटा गया है:--

(1) धान आदि के बीज, (2) आढक आदि के बीज, (3) शाकों के बीज, (4) लताओं और फलों के बीज । यह चार प्रकार की कृषि मनुष्यों को पुष्टिप्रद एवं फलदायक तथा पशुओं को भी जीवनदायक बतायी गयी है । यह भी कहा गया है कि इससे खेत भी पुष्ट होते हैं (श्लोक 352) । सर्वोत्तम महीपालों ने भी अपने अपने देश में अपने भृत्यवर्गों के रक्षण द्वारा कृषि-कर्म किया है (श्लोक 354)। कृषि-कार्य में बीज को मुख्य माना गया है (कृषिकार्यं तु बीजमुख्यं प्रकीर्तितम्-श्लोक 356), और इसीलिये युक्तिपूर्वक बीज के संग्रह पर विशेष बल दिया गया है (श्लोक 357)। इस सन्दर्भ में शालि आदि प्रमुख बीजों का विवरण भी दिया गया है (श्लोक 357 और आगे) । बीज-संरक्षण का भी विशेष महत्त्व बताया गया है (श्लोक 369 और आगे)।

पके हुए अनाज को खलिहान में सूर्य की धूप में सुखाकर उसे बीज के लिये संग्रह करके अपने घर में सुरक्षित करने की सलाह दी गई है(श्लोक 370)। वृक्षों के बीजों का भी संग्रह एवं संरक्षण इसी संदर्भ में बताया गया है(श्लोक 394 और आगे)। राजा के लिए भी बीज-संग्रह एवं बीज-संरक्षण की सलाह दी गई है (श्लोक 371)। बीजों को कुम्भों, पलाल एवं कुण्डों में सुरक्षित रखने की सलाह दी गई है (श्लोक 400)। खरगोशों, चूहों, बिल्लियों, पानी के छीटों, हवा, बरसात आदि से उनकी रक्षा करने पर बल दिया गया है (श्लोक 401)। इस प्रकार उत्तम प्रकार के बीजों का खलिहान एवं घर में पालन करना कृषकों के लिए श्रेयस्कर बताया गया है (श्लोक 402)।

वराहमिहिर ने बृहत्संहिता[1] के वृक्षायुर्वेद अध्याय में बीजों को बोने के पहले दस दिन तक घी से सिक्त हाथ से प्रतिदिन दूध में डालकर एवं फिर उन्हें बाहर निकाल कर, गोबर से मर्दित एवं एक विशेष प्रकार से धूपित करने के उपरान्त, सुअर के मांस से संयुक्त कर बोने का उल्लेख किया है । यह विधि वृक्षों के बीजों को बोने के सन्दर्भ में बतायी गयी है । वृक्षों के बीज के संस्कार की विधि कौटिल्य के अर्थशास्त्र[2] में भी मिलती है। इसमें बोने के पूर्व धान्य-बीजों को 7 दिन तक और कोशीधान्य (दालों) के बीजों को 3 या 5 दिन तक रात की ओस और दिन की धूप में रखने की विधि का उल्लेख किया गया है[3] । अस्थि-बीजों में गोबर इत्यादि का लेप कर उनके बोने की विधि भी बतायी गयी है । भट्टस्वामिन् (12वीं शताब्दी) की टीका से ज्ञात होता है कि अर्थशास्त्र की परम्परा पूर्व मध्यकाल में भी प्रचलित रही होगी । भट्टस्वामिन्[4] ने अर्थशास्त्र में आये धान्य-बीज का अर्थ व्रीहि इत्यादि के बीज बताया है । कोशी-धान्य के उदाहरण में मुद्ग, आढकी आदि का उल्लेख किया है । कोशी-धान्य के बीजों के बोने के पहले उपर्युक्त विधि,

---

1. वही, 54.19-20.
2. अर्थशास्त्र, 2.24.24
3. वही, 2.24.24.
4. द्रष्टव्य अर्थशास्त्र पर भट्टस्वामिन् की टीका, जे०बी०ओ०आर०एस०, ज़िल्द 12, भाग 2, पृ० 139.

वैकल्पिक रूप से, केवल 3 दिन की बतायी गयी है, और अर्थशास्त्र के 5 दिन के विकल्प को छोड़ दिया है। इस प्रकार भट्टस्वामिन् ने इस हद तक संशोधन भी किया।

कृषिपराशर (श्लोक 168 और आगे) में बीज-वपन-विधि विस्तार के साथ दी गई है। इस सन्दर्भ में यह बताया गया है कि किन महीनों नक्षत्रों और दिनों में बीज का बोना उत्तम एवं शुभ होता है। साथ ही बीज-वपन के लिये त्याज्य महीनों, दिनों एवं नक्षत्रों का भी विवरण दिया गया है। इस अवसर पर इन्द्र के ध्यान, वसुन्धरा की मन्त्र द्वारा स्तुति आदि का भी विधान किया गया है (श्लोक 177 और आगे)। बीजों को बोने के बाद उन्हें ढकने के लिये पाटा चलाने (मयिकादान) की भी सलाह दी गई है (श्लोक 182)। बीजों के समान रूप से जमने के लिये इसे आवश्यक बताया गया है।

बीज बोने की एक से अधिक विधियों के प्रमाण मिलते हैं। बाण के हर्षचरित[1] से ज्ञात होता है कि कुछ कृषक खेतों में बीजों को छींट कर बोते थे। मत्स्य पुराण के एक साक्ष्य[2] से हल के पीछे झुक कर चलते हुये कूंड़ में बीज डालने का संकेत मिलता है। यह प्रथा विशेष प्रचलित रही होगी, क्योंकि

---

1. वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 178-179.

2. इसमें शिव को झुक कर प्रणाम करते हुये ऋषियों की तुलना खेत में झुककर बीज बोने वाले कृषकों से की गयी है। मत्स्यपुराण, 154.404.

इसमें बीज पहली प्रथा की तुलना में कम लगते हैं। मिलवा फसलें, जैसे उरद में तिल मिलाकर, बोने की प्रथा भी प्राचीन काल से ही प्रचलित थी[1]। इसमें प्रधान एवं गौण का अन्तर किया जाता था[2]। अमरकोश (2·9·8) में "बीजाकृत" शब्द एवं उसका पर्यायवाची "उप्तकृष्ट" शब्द उस खेत के लिये दिये गये हैं जो बोने के बाद जोता जाता था। इससे यह लगता है कि कभी-कभी खेतों को बोने के बाद भी जोता जाता था। छींट कर बोये गये खेतों में बीजों को मिलाने के लिये इसकी आवश्यकता विशेष रूप से पड़ती रही होगी[3]।

शालि आदि कुछ धान्य पहले केदार में बो दिये जाते थे, और फिर उनके छोटे पौधे को उखाड़कर उनका खेत में रोपण किया जाता था[4]। काश्यपीय-कृषिसूक्ति (श्लोक 431) से ज्ञात होता है कि बड़े एवं समृद्ध किसान धान की रोपाई भृत्यों द्वारा पंक्तियों (पंक्तिशः) में कराते थे। वराहमिहिर की बृहत्संहिता में वृक्षों के पौधों को भी रोपने की विधियों का वर्णन मिलता है।

पौधों को एक स्थान से ले जाकर दूसरे स्थान पर लगाना

पौधों को एक स्थान से उखाड़ कर दूसरे स्थान पर लगाने की विधि (transplantation) का भी वर्णन वराहमिहिर की बृहत्संहिता (54·7

1· महाभाष्य, 2·3·19; अच्छेलाल, प्राचीन भारत में कृषि, पृ0 74, पादटिप्पणी 4·

2· वासुदेवशरण अग्रवाल, पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृ0 202·

3· द्रष्टव्य, अच्छेलाल, प्राचीन भारत में कृषि, पृ0 186

4· कृषिपराशर, श्लोक 183-85·

और आगे ◊ में मिलता है। इसे संक्रमण-विरोपण कहा गया है । इसके अनुसार उखाड़े गये पौधों में जड़ से तने तक घी, उशीर, तिल, द्रौक्ष, ◊शहद◊, विडङ्ग तथा गाय के दूध एवं गोबर का लेप किया जाता था । अशोक आदि वृक्षों एवं औषधियों के पौधों का उल्लेख इस सन्दर्भ में किया गया है । रोपण करते समय भी पूजा करने का उपदेश दिया गया है । पौधों को सींचने की विधि का भी उल्लेख मिलता है-ग्रीष्म काल में सुबह-शाम, शिशिर में एक दिन के अन्तर पर और वर्षा-काल में जब भूमि सूखने लगे । इस प्रकार वृक्षों के पौधों को लगाते समय एक दूसरे के बीच कम से कम 18 फीट के अन्तर होने का विधान किया गया है[2]।

वराहमिहिर में हमें वृक्षों एवं औषधियों के पौधों के संक्रमण-विरोपण का वर्णन मिलता है । पर कृषि-पराशर में धान के पौधों को एक स्थान से उखाड़कर खेत में लगाने की विधि का वर्णन मिलता है । कृषि-पराशर के अनुसार बीज दो प्रकार के होते हैं - एक तो बोने के लिये और दूसरे रोपण के लिये ◊श्लोक 182◊ । जो बोने के लिये होते हैं वे रोग-निर्मुक्त होते हैं, पर जो रोपण के लिये होते हैं उनके रोगयुक्त होने की संभावना अधिक रहती है ◊वही◊ । धान के पेड़ के पूर्णरूप से बड़ा हो जाने पर उसका रोपण नहीं करना चाहिये ◊श्लोक 184◊ । पराशर के अनुसार वृक्ष के रोपण की तरह धान्य ◊धान◊ का रोपण नहीं करना चाहिए ◊वही◊ । ~~श्रावण~~ श्रावण,

---

1• बृहत्संहिता, 54•9

2• वही, 54•12, 13•

भाद्र एवं आश्विन मासों में धान्य के पौधों का रोपण क्रमश: एक हस्त, अर्द्ध हस्त, एवं चार अंगुल दूरी पर करने की सलाह दी गई है (श्लोक 185-मूल एवं अंग्रेजी अनुवाद) ।

एक वृक्ष की दूसरे पर कलम बाँधने (grafting) की विधियाँ

प्राचीन काल एवं पूर्व मध्यकाल में कलम बाँधने की विधि ज्ञात थी कि नहीं इस पर विवाद है । जी0पी0 मजूमदार[1] एवं राधारमन गंगोपाध्याय[2] के अनुसार एक वृक्ष की दूसरे पर कलम रोपित करने की विधि प्राचीन भारत में ज्ञात थी । पर पी0के0 गोडे[3] के अनुसार इसका सर्वप्रथम उल्लेख वराहमिहिर (6ठीं शताब्दी) की <u>बृहत्संहिता</u> में ही मिलता है । उनका यह भी कहना है कि <u>बृहत्संहिता</u> के बाद के किसी भी भारतीय स्रोत में फिर इसका उल्लेख नहीं प्राप्त होता । उनके अनुसार मध्यकाल में ही 1550 ई0 में गोवा के जेसुइट लोगों द्वारा आम के पेड़ों पर इसके प्रयोग के स्पष्ट प्रमाण मिलते हैं । ऐसी स्थिति में उनको संदेह है कि इसके पहले इस विधि का प्रयोग होता था ।

---

1. <u>वनस्पति</u>, पृ0 39, 40, 63.
2. ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ0 69.
3. "हिस्ट्री ऑफ दि आर्ट ऑफ ग्राफ्टिंग प्लांट्स", <u>इंडियन कल्चर</u>, जिल्द 13, पृ0 25-34.

पराशरगौर[1] ने (बृहत्संहिता 54.4,5) रोपण की दो विधियों का उल्लेख किया है —एक तो कलम लगाने (काण्ड-रोपण) की और दूसरी एक वृक्ष के ऊपर दूसरे की कलम बाँधने (grafting) की । काण्डरोपण विधि में एक वृक्ष-काण्ड (टहनी या शाखा) काट कर उसमें गोबर का लेप कर उस कलम को अन्यत्र ले जाकर लगा देते थे । पर कलम बाँधने की विधियाँ इससे भिन्न थीं । एक विधि के अनुसार वृक्ष को तने से काटकर उसकी जड़ में दूसरे वृक्ष की कलम रोपित करते थे, और दूसरी विधि के अनुसार वृक्ष के आधे तने को ऊपर से काटकर उसके बचे हुये तने में दूसरे वृक्ष की कलम रोपित करते थे ।

नवीं शताब्दी में भट्टोत्पल ने बृहत्संहिता के पूर्वोद्धृत श्लोकों की जो विशद एवं विस्तृत व्याख्या की है उससे स्पष्ट होता है कि पूर्व मध्यकाल में भी एक वृक्ष के ऊपर दूसरे की कलम बाँधने की विधियों का ज्ञान था । उन्होंने इन विधियों के सन्दर्भ में यह भी बताया है कि कलम बाँधने में दोनों वृक्षों के जोड़ों पर मृत्तिका का लेप लगाना चाहिये (इस मृत्तिका-विधान का उल्लेख वराहमिहिर ने नहीं किया है) । पर इन विधियों का प्रयोग उद्यान

---

1. ततोऽनन्तरं परं प्रकृष्टं
   मूलोच्छेदे अथवा स्कन्धे रोपणीयः ।
   अन्यवृक्षस्य मूलोच्छेदं कृत्वा तस्य
   छिन्नमूलस्योपरि विजातीयो वृक्षो रोपणीयः । अथवा
   स्कन्धादधार्दन्यवृक्षं छित्वा तस्य स्कन्धमुत्कीर्य विजातीयो वृक्षो
   रोपणीयः । तत्र मृत्तिकाश्लेषं दापयेदिति । बृहत्संहिता, 54.5 पर ।

के पेड़ों तक ही सीमित रहा होगा और इसके बड़े पैमाने पर प्रचलन के प्रमाण नहीं मिलते हैं। गोडे महोदय का ध्यान इस व्याख्या की ओर नहीं गया।

सिंचाई

धान्य के पौधों के सम्यक् संवर्धन एवं उनसे वांछित उत्पादन के लिये सिंचाई की बड़ी आवश्यकता थी। जैसा कि पिछले अध्याय में देखा जा चुका है, सिंचाई के दो साधन---प्राकृतिक एवं कृत्रिम थे। कृत्रिम साधनों द्वारा सिंचाई कृषि-कार्य का एक महत्त्वपूर्ण अंग थी। पर ये साधन सर्वत्र समान रूप से नहीं उपलब्ध हो पाते थे। पूर्व मध्यकाल में सिंचाई के कृत्रिम साधनों के प्रचलन तथा उनके विकास एवं विस्तार से सम्बन्धित साक्ष्यों पर पहले ही विचार किया जा चुका है।

निराई

जब धान्य के पौधे खेत में उगते थे तो उनके साथ घास-पतवार भी उग आते थे, जो उनकी बाढ़ के लिये हानिकर होते थे। अत: खेतों की निराई का विशेष महत्त्व प्राचीन काल में भी लोग अच्छी प्रकार समझते थे। मनु[1] ने "निदातृ" के दृष्टान्त से ही यह स्पष्ट किया है कि राजा को दुष्टों का निग्रह तथा साधु व्यक्तियों की रक्षा उसी प्रकार करना चाहिए जैसे लवनकर्ता खेत से घास, तृण आदि का उद्धरण तथा धान्य के पौधों की रक्षा करता है। मेधातिथि[2] ने अपने भाष्य में कहा है कि धान्य के पौधे

---

1. मनुस्मृति, 7.110.

2. मनुस्मृति, 7.110 मेधातिथि का भाष्य।

तथा घास एवं खर-पतवार एक साथ ही खेत में उत्पन्न होते हैं और रहते हैं, पर लवनकर्ता बड़ी निपुणता के साथ (नैपुण्येन) घास एवं खर-पतवार तो उखाड़ कर फेंक देता है और धान्य के पौधों की रक्षा करता है । अमरकोश (3·235) में "स्तम्बघ्न" और "स्तम्बघन" शब्द खेत में उगे हुये तृण और घास को निकालने के लिये प्रयोग किये जाने वाले उपकरण (खुरपी या कुदाल) के लिये आते हैं ।

कृषि-पराशर से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि पूर्व मध्यकाल में खेतों की निराई की विधि का काफी हद तक विकास एवं विस्तार हो गया था । इस ग्रन्थ में निराई के लिये "निस्तृणीकरण" शब्द दिया गया है, जो पहले के ग्रन्थों में नहीं मिलता । इसमें निराई के महत्त्व को बताते हुये यह कहा गया है कि यदि धान, उगाये जाने पर भी, तृणवर्जित नहीं किये जाते तो उनसे सम्यक् फल नहीं मिलता है, क्योंकि तृणों से कृषि को हानि होती है । श्रावण और भाद्र के बीच में धान का निस्तृणीकरण करने से उसकी दुगुनी वृद्धि बताई गई है (श्लोक 190) । अन्त में यह कहा गया है कि कृषि की निराई के लिये सर्वप्रयत्न करना चाहिये, क्योंकि ऐसा करने से कृषाणों को कृषि से मनोवांछित फल की प्राप्ति होती है (श्लोक 192) । इस ग्रन्थ में कट्टन का भी उल्लेख किया गया है (श्लोक 186-88)। सम्भवत: इसका अर्थ यह लगता है कि जब खेतों में धान्य के पौधे एक दूसरे के अत्यन्त निकट उग जाते थे तो उनमें से कुछ को उखाड़ कर निकाल देते थे । यह भी पौधों की सम्यक् वृद्धि के लिये आवश्यक होता था । मध्ययुगीन योरप, विशेष रूप से इंग्लैंड, के इतिहास में भी कृषि की तकनीक के विकास के सन्दर्भ में अन्य बातों के साथ

निराई के महत्त्व की ओर ध्यान आकर्षित किया गया है[1]।

निम्नस्तर के कृषक स्वयं अपने खेत की निराई करते रहे होंगे । पर बड़े एवं समृद्ध कृषक, जैसा कि काश्यपीय-कृषि-सूक्ति (श्लोक 450) से ज्ञात होता है, भृत्यों (भृत्यकों:) के द्वारा निराई कराते थे । ये रोपे हुये धान की एक-एक कतार लेकर (पंक्तिशः पंक्तिशः) क्रम से निराई करते थे । यहाँ निराई प्रतिदिन (प्रत्यहं) करने की बात कही गयी है ।

फसल एवं वृक्षों की रक्षा

फसल की रक्षा

प्राचीन काल से ही पालतू एवं वन्य पशुओं, चिड़ियों आदि से फसल की रक्षा के प्रति विशेष ध्यान देने की परम्परा चली आ रही थी । नारद स्मृति (14.41) के अनुसार रास्ते के पास के खेत के चारों ओर ऊँची वृति बनाना चाहिए जिससे न तो ऊँट फसल को देख सकें, न अन्य पशु उस वृति को लाँघ सकें, और न शूकर उसे भेद सकें । कात्यायन स्मृति में यह कथन मिलता है कि मृग (हिरन या अन्य जानवर) यदि एक बार फसल का

---

1. दि कैम्ब्रिज ईकोनॉमिक हिस्ट्री आफ योरप, जिल्द 1, सम्पादक एम०एम० पोस्टन, कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी प्रेस, द्वितीय संस्करण, 1971, पृ० 155. पर मध्ययुग के पहले रोमन साम्राज्य के काल में भी निराई का महत्त्व था; वही, पूर्वोद्धृत पृष्ठ ।

स्वाद वख लेते हैं तो उनका निवारण करना बहुत कठिन हो जाता है।[1] उनसे बचाने के लिए खेत में अनाज जमने के पहले ही उसके चारों ओर महत् आवरण (ऊँचे चाड़) बनाने की सलाह इस स्मृति में दी गई है[2]। नारद और कात्यायन के उक्त कथनों से सम्बन्धित श्लोकों का उद्धरण लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) ने अपने व्यवहार-काण्ड (पृ० 463) में दिया है। इससे स्पष्ट होता है कि पूर्व मध्यकाल में भी पशुओं से शस्य की रक्षा के लिये खेतों के चारों ओर ऊँची बाड़ बनाने की परम्परा प्रचलित थी। जैन ग्रन्थ निशीथचूर्णि (7वीं शताब्दी) में फसलों की रक्षा के लिये खेतों के चारों ओर जल से भरी खाइयों का भी उल्लेख मिलता है[3]। पर यह विधि सामान्यत: सुकर एवं सब के लिये सम्भव नहीं हो सकती थी। बाण के हर्षचरित में खेतों के चारों ओर बाँस निर्मित बाड़ों का उल्लेख मिलता है[4]। यह प्रथा अपेक्षाकृत आसान होने के कारण अधिक प्रचलित रही होगी।

पर खेतों के चारों ओर ऊँची बाड़ या खाई बनाने की समुचित व्यवस्था करना सभी के लिये संभव न रहा होगा। फिर इस व्यवस्था से चिड़ियों

1• कात्यायनस्मृतिसारोद्धार, श्लोक 666•

2• वही।

3• निशीथचूर्णि 3, पृष्ठ 519; द्रष्टव्य अच्छेलाल, प्राचीन भारत में कृषि, पृ० 183•

4• वासुदेवशरण अग्रवाल, हर्षचरित-एक सांस्कृतिक, अध्ययन, पृ० 183•
कामन्दक (5•81) में काँटों की बाड़ का भी उल्लेख मिलता है।

आदि से फसल की सुरक्षा नहीं हो सकती थी । ऐसी स्थिति में खेतों में फसल की रखवाली की आवश्यकता होती थी । प्राचीन काल से ही इसके लिये समुचित उपाय करने पर विशेष बल दिया जाता था[1] । पूर्व मध्यकाल में भी हम बालिकाओं[2], स्त्रियों[3], एवं भृत्यों द्वारा खेत की रखवाली करने के साक्ष्य पाते हैं । बाणभट्ट[4] ने खेतों के रखवालों {वाहीक} का उल्लेख किया है । मनु पर मेधातिथि के भाष्य[5] में भी मिलता है कि भृत्यों को खेत की रखवाली के लिए लगाया जाता था । हेमचन्द्र के कुमारपालचरित पर पूर्णकलश गणि की टीका[6] से ज्ञात होता है कि इक्षु, चणक, चिर्भटिका {कुम्हड़ा या लौकी} आदि के खेतों में विशेष रखवाली की आवश्यकता होती थी ।

हर्षचरित में मिलता है कि कभी-कभी फसल को क्षति पहुँचाने वाले पक्षियों एवं जंगली पशुओं को डराने के लिये जंगली भैंसों के हड्डु फसल वाले खेतों में खड़े कर दिये जाते थे[7] । दीवसागर पन्नत्ति[8], वर्धमान की गणरत्न-

---

1. द्रष्टव्य अच्छेलाल, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 189.
2. छेत्त बालिणी {क्षेत्र रखाने वाली बालिकाएँ}-पुष्पदन्त का महापुराण, 41.2.5.
3. हेमचन्द्र का कुमारपालचरित {सम्पादक एस०पी०पण्डित} श्लोक 69 एवं 70 पर पूर्णकलशगणि की टीका ।
4. हर्षचरित, 7.210 {पृ०} !
5. क्षेत्रजागर्यांनियुक्तैर्वा-मनुस्मृति, 8.243 पर मेधातिथि का भाष्य ।
6. कुमारपालचरित, श्लोक 70 पर ।
7. वासुदेव शरण अग्रवाल, हर्षचरित-एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृ० 183.
8. पाइयसद्दमहण्णवो, पृ० 312.

महोदधि (वि०सं० 1197/1140ई०) आदि से ज्ञात होता है कि इस उद्देश्य से तृण या घास से बनाया गया पुरुष के आकार का पुतला खड़ाकर देते थे जिसे चंचा कहा जाता था[1]।

कृषिपराशर (पृ० 48) में शस्य की व्याधियों के निराकरण तथा अजा, चटक, शुक, शूकर, मृग, महिष, वराह, कीट-पतंगों आदि से उसकी रक्षा-हेतु पवनसुत हनुमन्त का एक मन्त्र दिया गया है। इस मंत्र को लिख कर खेत की फसल में बाँध देने के लिये कहा गया है (श्लोक 195)।

धर्मशास्त्र ग्रंथों में पालतू एवं वन्य पशुओं से फसल की रक्षा के उपाय (खेतों के चारों ओर बाड़ बनाना आदि) बताये गये हैं, और पालतू पशुओं द्वारा फसल को क्षति होने पर गोस्वामी को अर्थदण्ड देने, चरवाहे को ताड़ित करने, और क्षेत्रस्वामी को क्षति-पूर्ति देने का विधान किया गया है। लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) ने अपने कृत्यकल्पतरु के व्यवहार-काण्ड में सस्य-रक्षा एवं सस्यघात-दण्ड के ऊपर सीमाविवाद शीर्षक के अन्तर्गत दो अलग प्रकरण दिया है[2]। इन प्रकरणों में गौतम, मनु, नारद, बृहस्पति, याज्ञवल्क्य, विष्णु, कात्यायन शङ्ख•लिखित, व्यास एवं उशना के मत उद्धृत किये गये हैं। ये प्रकरण सस्य-रक्षा के प्रति विशेष ध्यान देने के द्योतक हैं। इस सन्दर्भ में यह भी मिलता है कि चरागाह से लगे हुये, ग्रामान्त पर, या रास्ते के किनारे जो बाड़-रहित

---

1. नानार्थमहोदधि, सम्पादक जे० एर्लिंग, पृ० 227-क्षेत्रे सस्यरक्षणार्थं तृणमयः पुरुषश्चंचा।

2. व्यवहारकाण्ड, पृ० 461-467.

खेत होते थे उनमें यदि पालतू जानवर थोड़ा चर लेते थे तो उसे अपराध नहीं माना जाता था[1] ।

वृक्षों की रक्षा

वृक्षायुर्वेद वृक्षों को नाशक जीव-जन्तुओं एवं रोगों से बचाने तथा उनके पोषण की विधियाँ प्राचीन काल में भी प्रचलित थीं ।

वृक्षायुर्वेद[2] का उल्लेख हम अर्थशास्त्र में भी पाते हैं । पर पूर्व मध्य-काल में वृक्षायुर्वेद-सम्बन्धी ज्ञान का काफी विकास एवं विस्तार हुआ । वराहमिहिर की बृहत्संहिता में वृक्षायुर्वेद पर एक अलग अध्याय (55) मिलता है, जिसमें काश्यप के कई उद्धरण मिलते हैं । अग्निपुराण में भी वृक्षायुर्वेद पर एक अध्याय (282) दिया गया है । पूर्व मध्यकाल में वृक्षायुर्वेद पर लिखा गया एक स्वतन्त्र ग्रन्थ दसवीं शताब्दी के आस-पास का है जिसके रचयिता शूरपाल थे[3] । इसमें वृक्षों के रोगों को दो भागों में विभक्त किया गया है-- (1) आन्तरिक शारीरिक कारण से उत्पन्न रोग जो वात, पित्त एवं कफ के प्रकोप से उत्पन्न होते हैं, और (2) बाहर से आने वाले रोग जो कुओं, पाला (शीत) आदि के कारण उत्पन्न होते हैं । इन सभी रोगों के उपचार

---

1. व्यवहारकाण्ड, पृ० 462 (नारद, याज्ञवल्क्य एवं विष्णु के उद्धरण) ।

2. उदाहरणार्थ अर्थशास्त्र, 2.24.

3. द्रष्टव्य एस०पी०रायचौधरी, ए कंसाइज हिस्ट्री ऑफ साइंस इन इण्डिया में, पृ० 362.

के अलग-अलग नुस्खे दिये गये हैं[1]। वृक्ष के किसी अंग के टूट जाने पर भी उसके उपचार की विधि मिलती है[2]। अर्थशास्त्र पर लिखी गई 12वीं शताब्दी की भट्टस्वामिन् की टीका में अग्निवेश्य आदि प्रणीत वृक्षायुर्वेद का उल्लेख मिलता है[3]। इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि 12वीं शताब्दी तक वृक्षायुर्वेद पर एक से अधिक स्वतन्त्र ग्रन्थ अस्तित्व में आ गये थे। वृक्षायुर्वेद के सम्बन्ध में पूर्व मध्यकाल में संचित ज्ञान का सारांश हम 13वीं शताब्दी में शार्ङ्गधर-प्रणीत शार्ङ्गधर-पद्धति[4] के उपवनविनोद नामक अध्याय में पाते हैं।

पर इस संदर्भ में यह ध्यान रखने योग्य है कि वृक्षायुर्वेद में दिये गये उपचार मुख्यत: उद्यान के वृक्षों के लिये ही हैं। धान्य की शस्य पर इनका बड़े पैमाने पर प्रयोग नहीं किया जा सकता था।

लवन

कृषिपराशर में धान्यों के पक जाने पर कुछ अनुष्ठानों-मुष्टिग्रहण (श्लोक 200 और आगे), मेधिरोपण (श्लोक 214 और आगे) एवं पुष्ययात्रा

---

1. इनमें से कुछ नुस्खों के लिये द्रष्टव्य वही, पृ0 362.
2. वही, पृ0 363.
3. जे0बी0ओ0आर0एस0, जिल्द 12, भाग 2, पृ0 134 (वृक्षायुर्वेदो ~~ऽ~~ अग्निवेश्यादिप्रणीत:)। आयुर्वेद के प्राचीन आचार्य अग्निवेश्य चरक के भी पहले हुये थे। ऐसा लगता है कि भट्टस्वामिन् की टीका में उल्लिखित अग्निवेश्य दूसरे थे, जो बाद में हुये थे।
4. वही, सम्पादक पीटर पिटर्सन, बाम्बे संस्कृत सिरीज, सं0 38, बम्बई, 1988.

॥श्लोक 221 और आगे॥ का विधान किया गया है । इसके बाद धान्य की कटायी ॥धान्य छेद॥ की जाती थी ॥श्लोक 237॥ । धान के सन्दर्भ में पौष मास में धान्यछेद का विधान किया गया है ॥श्लोक 237॥ ।

दामोदर पण्डित ॥12वीं शताब्दी॥ के उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण के कई स्थानों[1] पर हँसिया से खेत में पके धान्यों के काटने ॥लवन॥ के उल्लेख मिलते हैं । इस उपकरण को संस्कृत में दात्र या लवित्र कहते थे, पर उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण के पुरातन कोशली ॥ अवधी के रूप में पूर्वी हिन्दी॥ के उद्धरणों से ज्ञात होता है कि इसके लिये इस भाषा में हंसिया[2] शब्द प्रचलित था । इसी प्रकार अन्य क्षेत्रों की देशी भाषाओं में इसके लिये तथा कुछ अन्य उपकरणों के लिये भी अलग-अलग शब्द रहे होंगे ।

काश्यपीयकृषि सूक्ति ॥श्लोक 480॥ से ज्ञात होता है कि सम्पन्न लोग कटाई ॥कर्तन॥ के कार्य में अनुजीविकों ॥अनुजीविक-वर्ग॥ तथा अन्य भृत्यों को लगाते थे । अनुजीविकवर्ग के लोग आश्रित कृषक एवं कर्मकर रहे होंगे, तथा अन्य भृत्य अनियत ॥ *casual* ॥ कर्मकर रहे होंगे । छोटे कृषक इस कार्य को स्वयं अथवा पारस्परिक सहायता के आधार पर करते रहे होंगे ।

1• उक्ति-व्यक्ति-प्रकरण, सम्पादक आचार्य जिनविजय मुनि, भारतीय विद्या-भवन, बम्बई, 1953, पृ० 13, पंक्ति 22; पृष्ठ 14, पंक्ति 13; पृष्ठ 15, पंक्ति 4•

2• वही, पृष्ठ 13, पंक्ति 22; पृष्ठ 15 पंक्ति 4•

स्वयं[1] अथवा पारस्परिक सहायता (सादृश्यक्रिया)[2] के आधार पर : कृषि कार्य करने का उल्लेख हम काश्यपीयकृषिसूक्ति में पाते हैं ।

प्राचीन काल[3] में लाव की पद्धतियां विभिन्न फसलों के अनुसार थीं । गेहूँ, जौ आदि को भूमि के बराबर से डंठल-सहित काट लिया जाता था । कुछ की, जैसे कभी-कभी जौ की, बालियाँ काटकर भी लाव किया जाता था, और डंठल (काण्ड) बाद में काटा जाता था । मूँग, उड़द, आदि के पौधों को जड़ से उखाड़ कर उनका उन्मूलन किया जाता था । ये पद्धतियाँ पूर्व मध्यकाल में भी प्रचलित रही होंगी ।

मणनी (मर्दन)[4]

काश्यपीयकृषिसूक्ति (श्लोक 484) के अनुसार फसल की कटाई के बाद कृषक स्वयं अथवा भृत्यों एवं अनुचरों द्वारा उसे खलभूमि (खलिहान) में ले जाकर रखते थे । पर कृषिपराशर, जिसकी रचना बंगाल में हुई, में खल

---

1. काश्यपीयकृषिसूक्ति, श्लोक 478.

2. वही, श्लोक 481.

3. पतंजलि का महाभाष्य, हरियाणा साहित्य संस्थान, रोहतक, 1961-64, 2.3.70; 3.2.1; द्रष्टव्य प्रभुदयाल अग्निहोत्री, पतंजलि कालीन भारत, पृ0 265; अचेनाल, प्राचीन भारत में कृषि, पृ0 133.

4. कृषिपराशर, श्लोक 237.

(खलिहान) का उल्लेख नहीं मिलता । या तो यह छूट गया है या उस क्षेत्र में अनाज काट कर खेत में ही मणनी की जाती थी और अन्यत्र स्थान पर खलिहान नहीं बनाया जाता था । बाण ने हर्षचरित में खलिहानों (खल) में इकट्ठी की गयी फसलों को पर्वतों के समान (सस्यकूट)[1] बताया है । खलिहान में इकट्ठी फसल की मणनी के लिए प्राय: बैलों का प्रयोग किया जाता था । अमरकोश (2•9•15) में "मेधि" शब्द मिलता है, जो खलिहान में मड़ाई के बैलों को बाँधने के लिये एक लकड़ी का खम्भा होता था । बैलों द्वारा मड़ाई के अवशेष आज कल भी गाँवों में देखे जा सकते हैं । पर काश्यपीयकृषिसूक्ति (श्लोक 487) में बैलों के अतिरिक्त महिष (भैंसे) के भी एतदर्थ प्रयोग का उल्लेख मिलता है । मणनी के बाद अनाज के डंठल बैलों के खुरों से टूट कर भूसा बना जाते थे और दाने बालियों से अलग होकर उसी भूसे में मिल जाते थे । अनाज को भूसे से अलग करने के लिये ओसाया जाता था । अमरकोश (3•2•24) में निष्पाव, पवन, एवं पव शब्द दिये गये हैं, पर कृष्णमित्र[2] के अनुसार ये शब्द धान्य को पछोरने के अर्थ में बताये गये हैं न कि ओसाने के । मल्लिनाथ की माघ के शिशुपालवध (14•7) पर टीका में ओसाने के लिये "धान्यस्योत्क्षेप"[3] एवं "पवनम्" शब्द मिलते हैं । शिशुपालवध

1• हर्षचरित 3•94•

3• प्रताते शूर्पादिना धान्यस्योत्क्षेप: पवनम्-शिशुपालवध (14•7) पर मल्लिनाथ की टीका ।

2• अमरकोश पर कृष्णमित्र की टीका, सम्पादक सत्यदेव मिश्र, प्रिंटरक

(14.7) की एक उपमा से यह ज्ञात होता है कि कर्षक लोग ओसाने के लिये उत्कण्ठा के साथ वायु (समीकरण) की प्रतीक्षा करते थे : धान्य को ओसाने के लिए वे कुछ तेज हवा बहने की प्रतीक्षा करते थे। जब इस प्रकार अनुकूल हवा बहने लगती थी तो वे शूर्प आदि से अनाज ओसाते थे। जिनदास गणि की निशीथचूर्णि (7वीं शताब्दी) के अनुसार, ओसाने के कार्य के लिए हाथी के कान के आकार के शूप का प्रयोग किया जाता था[1]। यह ग्रन्थ, मालवा, गुजरात, सौराष्ट्र एवं दकन से विशेष सम्बन्धित लगता है[2]।

काश्यपीयकृषिसूक्ति में मिलता है कि ओसाने के लिये अनुकूल वायु एवं शूर्प से ओसाने का ज्ञान एक विशिष्ट ज्ञान माना जाता था। इसके अनुसार इस ज्ञान से सामान्य लोगों द्वारा (शूर्पवातादिभिः) ही ओसाने का कार्य किया जाना चाहिए (श्लोक 489)।

खलिहान की भूमि पर नये धान्य की राशि में से दान

पराशर स्मृति में अनाज तैयार हो जाने पर किसी विशेष अनुष्ठान का उल्लेख नहीं मिलता। पर बृहत्पराशर-संहिता[3] में इस अवसर पर कृषकों के लिए खलयज्ञ का विधान किया गया है, जो खलिहान की भूमि पर सम्पन्न

---

1. सुप्पं गयकण्णाकारं ....
   मधुसेन द्वारा उद्धृत, ए कल्चरल स्टडी आफ दि निशीथचूर्णि, पृ० 194, पादटिप्पणी 6.
2. वही, पृ० 10, 11.
3. धर्मशास्त्रसंग्रहः, सम्पादक श्रीजीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1876, पृष्ठ 113.

होता था । इस सन्दर्भ में याचकों, दीनों, अनाथों, द्विजों, चाण्डालों आदि को तैयार किये गये धान्य में से दान देने को कहा गया है । कारुकों (बढ़ई, लोहार, कुम्हार आदि) को भी दान देने का स्पष्ट उल्लेख किया गया है । इसके बाद कृषक अनाज की राशि को घर में ले जाते थे । काश्यपीयकृषिसूक्ति (श्लोक 491) में भी घर में ले जाने के पहले खलिहान (खल) की भूमि पर तैयार किये धान्य के कुछ भाग देवताओं, राजा, श्रोत्रियों को देने का उपदेश किया गया है । इसी सन्दर्भ में किसी भी स्थल पर (क्वचित्स्थले) -खलिहान की भूमि पर या अन्यत्र कहीं-तैयार किये धान्य की राशि में से दान या भृत्यों को पोषण (भृत्यवर्गपोषणम्) देने को कहा गया है (श्लोक 492) । पर "खलयज्ञ" शब्द इस ग्रन्थ में नहीं मिलता है । फसल का अनाज तैयार हो जाने के बाद उसमें से कारुकों एवं भृत्यों को दान या पोषण के रूप में देना कालान्तर की जजमानी[1] प्रथा का पूर्व रूप लगता है । इस प्रथा के अनुसार सेवक जातियों (धोबी, नाई आदि), एवं शिल्पियों (लोहार, बढ़ई, कुम्हार आदि) को उनके कार्य के उपलक्ष्य में वेतन न देकर उन्हें फसल तैयार होने पर अनाज में से विभिन्न अंश दिये जाते थे ।

---

1. द्रष्टव्य डब्ल्यू०एच० वाइजर, दि हिन्दू जजमानी सिस्टम, तृतीय संस्करण, मुंशीराम मनोहरलाल, दिल्ली, 1988, पृ० 35 और आगे ।

अध्याय 5

कृषि में उत्पादन

व्रीहि[1] शालि को भी दो वर्गों में विभाजित किया गया है — उत्तम कोटि के शालि एवं अन्य प्रकार के शालि । अष्टाङ्ग हृदय[2] में उत्तम कोटि के शालि के निम्नलिखित प्रकार गिनाये गये हैं :-

(1) रक्तशालि – हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि (4.234–35) में इसे लोहित भी कहा गया है । सुश्रुत-संहिता (सूत्र अध्याय 46.4) में भी लोहित शालि मिलता है ।

(2) महान (महाशालि) – हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि (4.235) में महाशालि का उल्लेख मिलता है ।

(3) कलम – अष्टाङ्ग हृदय पर अरुणदत्त की टीका के अनुसार कलम की प्रसिद्धि मगध आदि देशों में थी, कश्मीर में इसे महातण्डुल कहा जाता था[3] । अभिधान-चिन्तामणि (4.234–35) में कलम के अतिरिक्त कलामक भी मिलता है ।

---

1. अष्टाङ्ग हृदय, पृ0 85.
चक्रपाणिदत्त ने चरक संहिता के आधार पर धान के तीन वर्गों की अवधारणा की है — शालि, षष्टिक एवं व्रीहि । शालिवर्ग के धान हेमन्त ऋतु के धान बताये गये है, षष्टिक आदि को ग्रीष्म ऋतु का धान कहा गया है, और व्रीहि को शरद ऋतु का बताया गया है । इस प्रकार यहाँ षष्टिक व्रीहि से भिन्न माना गया है । चरक संहिता, भाग 1, सम्पादक काशीनाथ शास्त्री, वाराणसी, 1969, पृ0 369.

2. वही, 6.1–3.

3. वही, पृ0 84.

(4) तूर्णक – अरुणदत्त के अनुसार कश्मीर में इसे आपश कहा जाता था[1] ।

(5) शकुनाहृत – अरुणदत्त की टीका में मिलता है कि यह बुद्ध के काल में उत्तर कुरुक्षेत्र से मगध में हंसों द्वारा लाया गया था[2] । एक अन्य परम्परा के अनुसार यह गरुड़ द्वारा द्वीपान्तर से लाया गया था[3] । चरकसंहिता (27.8) पर चक्रपाणिदत्त की टीका के अनुसार श्रावस्ती में यह शालि चक्र नाम से प्रसिद्ध था ।

(6) सारा-मुख – इसे अरुणदत्त की टीका में कृष्णशूक कहा गया है ।

(7) दीर्घशूक

(8) रोध्रशूक – इसका शूक रोध्र पुष्प के आकार का होता था ।

(9) सुगन्धिक – अरुणदत्त[4] के अनुसार जालन्धर, मगध आदि देशों में इसे गन्धशालि कहा जाता था , और मालव देश एवं गौड में यह देवशालि के नाम से अधिक प्रसिद्ध था ।

(10) पुण्ड्र

(11) पाण्डु

---

1. अष्टाङ्ग हृदय, पृ० 84 .
2. वही , पृ० 84 .
3. चरक-संहिता (चक्रपाणिदत्त की टीका सहित) , भाग 1, सम्पादक पं० काशीनाथ शास्त्री, वाराणसी, 1969 , पृ० 369 .
4. अष्टाङ्ग हृदय , पृ० 84 .

(12) पुण्डरीक

(13) प्रमोद

(14) गौर[1]

(15) सारिवा[2]

(16) कांचन

(17) महिष

(18) शूक

(19) दूषक

(20) कुसुमाण्डक

(21) लाङ्गल

(22) लोहवाल

(23) कर्दम

(24) शीतभीरुक

(25) पतङ्ग

(26) तपनीय

उत्तम कोटि के शालि के उपर्युक्त के अतिरिक्त अन्य भेद (चे चान्ये[3]) भी बताये गये हैं, पर उन सबका उल्लेख नहीं किया गया है।

---

1. अष्टाङ्ग हृदय की एक पाण्डुलिपि में "गौरसारिवै" के स्थान पर "गौर-शालिकः" मिलता है। अष्टाङ्ग हृदय, पृ0 84, स्तम्भ 1, पादटिप्पणी 3,
2. वही.
3. अष्टाङ्ग हृदय, 6.3.

अरुणदत्त[1] ने खारणादि के कुछ श्लोक उद्धृत किया है, जिनमें दीर्घनाल एवं शंखमौक्तिक प्रकारों का उल्लेख मिलता है । ये दोनों प्रकार अष्टाङ्ग हृदय में नहीं दिये गये हैं ।

सामान्य प्रकार के शालि के निम्नलिखित नाम दिये गये है[2] :-

(1) यवक ,   (2) हायन ,

(3) पांसुवाष्प (इसे हेमाद्रि ने अपनी अष्टाङ्ग हृदय की टीका में कोरक[3] बताया है) ,

(4) नैषधक , आदि ।

अरुणदत्त ने अपनी टीका में "आदि" शब्द से चम्पकपत्रिका आदि प्रकार के शालि का अर्थ ग्रहण किया है[4] । चक्रपाणिदत्त[5] के अनुसार गौड़ देश शालि के लिये प्रसिद्ध था, और वहीं इसके विभिन्न नाम विशेष रूप से प्रचलित थे ।

व्रीहि वर्ग के धान के अन्तर्गत अष्टाङ्ग हृदय (6.8-10) में निम्नलिखित प्रकारों को गिनाया गया है :-

(1) षष्टिक - हेमाद्रि[6] की टीका के अनुसार यह व्रीहि 60 रातों में तैयार हो जाता था (षष्टिरात्रेण पच्यते) । अरुणदत्त[7] ने इसके दो भेद

---

1. वही , पृ0 85.
2. वही , 6.6 (पृ0 85).
3. वही , पृ0 85 .
4. वही , पृ0 85 .
5. चरकसंहिता, 27, 8 पर टीका ।
6. अष्टाङ्ग हृदय , 6.8 पर ।
7. वही , 6.8 पर ।

बताया है – गौर एवं कृष्णगौर । पर हेमाद्रि[1] की टीका में इसके तीन भेद

मिलते हैं – गौर, कृष्ण तथा कृष्णगौर । चक्रपाणिदत्त[2] के अनुसार यह ग्रीष्म-ऋतु का धान था और यह शालि एवं व्रीहि से भिन्न प्रकार का था । पर पराशर[3] ने षष्टिक को शालि के अन्तर्गत ही माना है । इससे यह स्पष्ट है कि वर्गीकरण की एक से अधिक परम्पराएँ थीं ।

(2) महाव्रीहि,

(3) कृष्णव्रीहि,

(4) जतुमुख,

(5) कुक्कुटाण्डक,

(6) लावाख्य,

(7) पारावतक,

(8) शूकर,

(9) वरकोद्दाल[4]

(10) उज्वाल,

(11) चीन,

(12) शारद,

(13) दर्दुर,

(14) गन्धन,

(15) कुरुविन्द ।

---

1. वही, 6.8 पर ।
2. चरकसंहिता, भाग 1, पृ0 369 (चक्रपाणिदत्त की टीका) ।
3. अरुणदत्त की अष्टाङ्गहृदय (6.8) की टीका में उद्धृत ।
4. अष्टाङ्ग संग्रह-संहिता एवं चरकसंहिता में वरक एवं उद्दालक दो भिन्न

ये 15 प्रकार के व्रीहि उत्तरोत्तर निम्न गुण वाले माने गये हैं।

विभिन्न वर्गों के धानों के उपर्युक्त नाम विशेष रूप से बाली एवं दाने के आकार-प्रकार, रंग, और सुगन्धि, तथा उनकी मूल उत्पत्ति के देश आदि के आधार पर थे। "षष्टिक" नाम का आधार उसके पक कर तैयार होने की समयावधि थी। पूर्व मध्यकाल में शालि के नामों एवं प्रकारों में वृद्धि दिखाई देती है। प्राचीन काल के वैद्यक ग्रन्थों-चरक संहिता (27.8) और वाग्भट एवं सुश्रुत संहिता (46.4)- में क्रमशः 19 एवं 17 प्रकार के शालि का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। पर वाग्भट द्वितीय के अष्टाङ्ग हृदय में, जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, शालि के कुल 26+4=30 प्रकारों एवं नामों का उल्लेख मिलता है। इससे यह स्पष्ट है कि पूर्व मध्यकाल में विभिन्न क्षेत्रों में प्रचलित शालि के नामों एवं प्रकारों की जानकारी में वृद्धि हुई, और उनका प्रचलन भी बढ़ा। रमाई पण्डित के शून्यपुराण से भी ज्ञात होता है कि बंगाल में धान के 50 से अधिक प्रकारों की खेती होती थी[1]।

वैद्यक के ग्रन्थों एवं कोश-ग्रन्थों में धानों के नामों एवं प्रकारों में मानकीकरण लाने एवं उन्हें व्यवस्थित करके उनका वर्गीकरण करने का प्रयास किया गया। पर अलग-अलग स्रोतों एवं क्षेत्रों में हम कुछ हद तक विभिन्नताएँ पाते हैं[2], उदाहरणार्थ, काश्यपीय कृषिसूक्ति में जो धानों के नाम मिलते हैं वे अधिकांशतः उन नामों से भिन्न हैं जिनका ऊपर उल्लेख किया गया है, और उनका वर्गीकरण भी दूसरे ढंग

---

1. टी०सी० दासगुप्ता, ऐस्पेक्ट्स आफ बंगाली सोसाइटी, पृ० 249-50; बी० एन० एस० यादव द्वारा उद्धृत, एस०सी०एन०आई०, पृ० 258, 305.
2. वास्तव में वैद्यक के ग्रन्थों में भी उनके वर्गीकरण में हम कुछ विभिन्नता पाते हैं, द्रष्टव्य ऊपर।

से मिलता है । इसमें धान्यों के 3 वर्ग किये गये हैं —शाल्यादि, कलमादि एवं व्रीह्यादि (श्लोक 358) । यहाँ शालिव्रीहि के 26 भेद बताये गये हैं । इनमें से आकार, एवं रंग के आधार पर 4 प्रकार वे बताये गये हैं जिनके नाम के अन्त में "शालि" मिलता है — श्वेतशालि, रक्तशालि, स्थूलशालि एवं दीर्घशालि (श्लोक, 362) । वैद्यक के ग्रन्थों एवं कोशग्रन्थों में हम रक्तशालि या लोहितशालि तथा महाशालि के ही उल्लेख पाते हैं । इसके बाद काश्यपीय कृषिसूक्ति में शालिव्रीहि के ही अन्तर्गत कलम-व्रीहि के 4 प्रकार बताये गये हैं —श्वेतवर्ण का कलम, रक्तवर्ण का कलम, स्थूल आकार का कलम, तथा दीर्घ आकार का कलम (श्लोक 362, 363) । कोश-ग्रन्थों एवं वैद्यक के ग्रन्थों में कलम के विभिन्न प्रकार नहीं मिलते । फिर इसी सन्दर्भ में 4 प्रकार के शाम्बक अथवा शाम्बव्रीहि भी बताये गये हैं — हेमाख्य शाम्बक, कपिश (भूरा) शाम्बक, रक्तशाम्ब एवं कृष्णशाम्ब (श्लोक 363-364) । इसके बाद शालिव्रीहि के ही अन्तर्गत 14 प्रकार के व्रीहि गिनाये गये हैं — शुकव्रीहि, स्थूलकाय व्रीहि, दलव्रीहि, पलशव्रीहि, स्वादुव्रीहि, फलव्रीहि, द्राक्षाव्रीहि, नीवार (श्वेत-कृष्ण), 2 प्रकार के यव (श्वेत एवं कृष्ण यव), संभरव्रीहि, कणव्रीहि, सितव्रीहि एवं अजीर्णहरव्रीहि (श्लोक 365-368) । व्रीहि के ये नाम वैद्यक ग्रन्थों में नहीं मिलते ।

इस प्रकार शालिव्रीहि के नामों, प्रकारों एवं वर्गीकरण में अन्तर का एक कारण यह भी हो सकता है कि कृषिशास्त्र की धान्य-परम्परा वैद्यक शास्त्र की धान्य-परम्परा से कुछ भिन्न थी । पर दूसरा कारण यह भी हो सकता है कि मध्य-काल तक आते-आते विभेदीकरण की प्रवृत्ति और गहरी हो गयी । पर नामों का अन्तर इससे नहीं स्पष्ट होता । हो सकता है कि क्षेत्रीय अन्तर भी इस स्थिति से सम्बन्धित रहा हो

जायसी द्वारा रचित पद्मावत[1] (ग्रन्थ की रचना का प्रारम्भ 947 हिजरी/1540 ईसवी) में 27 प्रकार के धानों के चावल निम्नवत् गिनाये गये हैं, जिनमें से अधिकांश परम्परा के अनुसार रहे होंगे :-

राजभोग, रानीकाजर, झिनवा, रुदुआ, दाउदखानी, [illegible], लेंगुरि, रितुसारी, मधुकर, ढिहुला, जीरासारी, धूमकाँडी, कुँवरविलास, रामवास, सगुनी, बेगरी, पद्मिनी, गन्हन, जड़हन, बड़हन, संसारतिलक, खंडविलास, राजहंस, हंसाभौरी, रूपमंजरी, केतकी, खिकोरी ।

इन चावलों के प्रचलन के सम्बन्ध में डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने (पद्मावत, पृष्ठ 716-718) विवेचन किया है, जिससे यह पता चलता है कि इनका प्रचलन उत्तर प्रदेश के अवध से लेकर बिहार क्षेत्र मिथिला तक रहा होगा । इनमें से दाउदखानी को छोड़कर 26 प्रकारों की परम्परा पूर्व मध्यकाल में भी इस क्षेत्र में रही होगी । उपर्युक्त नामों में से रितुसारि को रक्तशालि से सम्बन्धित किया जा सकता है, पर अन्य नामों में से अधिकांश को व्रीहि या शालि के उन नामों से संबंधित नहीं किया जा सकता जो पूर्व मध्यकाल के वैद्यक ग्रन्थों तथा कोश ग्रन्थों में मिलते हैं । इस प्रकार कुछ हद तक अलग-अलग क्षेत्रों में धानों के अलग-अलग नामों की परम्परा थी । यहाँ यह विचारणीय है कि चावलों के सभी प्रकारों का उल्लेख सम्राट के भोजन के सन्दर्भ में किया गया है । इससे यह

---

1. पद्मावत, व्याख्याकार डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, साहित्य-सदन, चिरगाँव (झाँसी) चतुर्थावृत्ति, विक्रम संवत् 2042 .

स्पष्ट होता है कि उत्तम कोटि के चावल राजाओं एवं समाज के अन्य विशिष्ट वर्ग के व्यक्तियों के उपभोग के लिये ही रहे होंगे ।

जौ और गेहूँ

चरक संहिता[1] में जौ के दो प्रकार मिलते हैं -- जौ (यव) और बाँस से उत्पन्न यव (वेणुयव) । पर वाग्भट के अष्टाङ्ग हृदय[2] में यव के तीन भेद बताये गये हैं-- यव, अनुयव और बाँस से उत्पन्न यव । अनुयव को यव से न्यून गुण वाला बताया गया है । हेमाद्रि[3] के अनुसार अनुयव में शूक (टूँड़) नहीं होते थे । पर अरुणदत्त की टीका में इसे एक विशेष प्रकार का शूक धान्य कहा गया है[4] ।

इस प्रकार चरकसंहिता के काल से अष्टाङ्ग हृदय के काल के बीच यव का एक प्रकार अनुयव प्रचलित हो गया था । अमरकोश (2.9.15) में जौ (यव) के दो नाम मिलते हैं-- सितशूक एवं यव । पर हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि में 3 नाम मिलते हैं -- यव, हयप्रिय एवं तीक्ष्णशूक (तीक्ष्ण टूँड़ वाला) । नामों की संख्या में वृद्धि भाषा के विकास एवं यव की कृषि के विस्तार से सम्बन्धित हो सकती है ।

गेहूँ के दो प्रकार चरकसंहिता में उल्लिखित हैं-- नन्दीमुखी एवं मधूली । पर वाग्भट के अष्टाङ्ग हृदय में केवल नन्दीमुखी नामक कृष्णदीर्घ गोधूमजाति का

---

1. चरकसंहिता 27.19.20.
2. अष्टाङ्ग हृदय 6.13-15.
3. निःशूको ....अष्टाङ्ग हृदय, 6.15 पर टीका ।
4. अष्टाङ्ग हृदय 6.15 पर टीका ।

स्पष्ट उल्लेख मिलता है[1] । गेहूँ के दो नाम— गोधूम एवं सुमन—अमरकोश (2. 9. 18) एवं अभिधानचिन्तामणि (4. 240) दोनों में मिलते हैं ।

तृणधान्य या तुच्छधान्य

ये निम्नकोटि[2] के माने जाने वाले धान्य निम्नलिखित हैं :-

कङ्गु (काकुनि)— हेमाद्रि[3] ने इसे प्रियङ्गु कह कर समझाया है ।

चक्रपाणिदत्त की चरकसंहिता (27. 17) की टीका में प्रियङ्गु को काङ्गनी भी कहा गया है । हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि (4. 242) में पीले चावल वाली कङ्गु के पाँच नाम दिये गये हैं — कङ्गु , कङ्गनी, प्रियङ्गु एवं पीततण्डुला । इसी क्रम में विभिन्न रंगों की प्रियङ्गु के चार नाम बताये गये हैं — मधुका (काली), शोधिका (लाल), मुसटी (सफेद) एवं माधव्य (पीली)[4] ।

कोद्रव या कोरदूषक (कोदो) - धान्य-संग्रह[5] की दृष्टि से पूर्व मध्यकाल में कोदो का विशेष महत्त्व था । पूर्व मध्यकाल में धान्य-संग्रह का बड़ा महत्त्व था ।

---

1. अष्टांगहृदय, 6. 16.. हेमाद्रि की टीका में अष्टांगसंग्रह के एक श्लोक का उद्धरण दिया गया है, जिसमें गेहूँ के मधूलिका प्रकार का उल्लेख मिलता है ।
2. सुश्रुतसंहिता (46. 21) में इन्हें कुधान्य कहा गया है ।
3. अष्टाङ्गहृदय, 6. 11 पर टीका ।
4. अभिधान-चिन्तामणि, 2. 243; सुश्रुत-संहिता (46. 24) में भी प्रियङ्गु के रक्त, पीत, कृष्ण एवं श्वेत प्रकारों का उल्लेख मिलता है ।
5. नीतिवाक्यामृत (18. 68) में राजा के लिये धान्य-संग्रह को सभी बहुमूल्य द्रव्यों के संग्रह से अधिक उपयोगी बताया गया है — सर्वसंग्रहेषु धान्यसंग्रहो महान् । युद्ध एवं अकाल की आशंका के कारण पूर्व मध्यकाल में धान्य-संग्रह पर विशेष बल दिया जाता था ।

सोमदेव के नीतिवाक्यामृत[1] में कोद्रों को सभी धान्यों से अधिक चिरंजीवी एवं संग्रह-योग्य बताया गया है । हेमचन्द्र के अभिधान-चिन्तामणि (4.243) में कोद्रों के तीन नाम मिलते हैं --कोद्रव, कोद्रूष एवं कोरदूषक ।

नीवार[2] - हेमाद्रि[3] ने इसे प्रसाधिका भी कहा है ।

श्यामाक (सावाँ) - चरकसंहिता (27.16, 17) में इसके दो भेद--[illegible] (मधुर सावाँ) एवं अम्भःश्यामाक (जल में पैदा होने वाला सावाँ) - मिलते हैं । पर हेमाद्रि के समय (13वीं-14वीं शताब्दी) तक इसके तीन भेद ज्ञात हो गये थे — हस्तिश्यामाक, तोयश्यामाक एवं उष्ट्रश्यामाक[4] । तीसरा भेद नया था । अभिधान - चिन्तामणि (4.242) के अनुसार श्यामाक और श्यामक दोनों सावाँ के नाम थे ।

इनके अतिरिक्त इस वर्ग के निम्नलिखित अन्य धान्य वाग्भट प्रथम (वृद्ध-वाग्भट) की अष्टाङ्ग-संग्रह-संहिता (7.12-14) में मिलते हैं :-
जूर्णाव्हि[5], (ज्वार या जोन्हरी) गर्मटी, चूर्णपादिका, शिंबिरा[6], शिशिर,

---

1. सर्वधान्येषु चिरजीविनः कोद्रवाः - नीतिवाक्यामृत, 18.70.
2. तिन्नी का चावल, चरकसंहिता, सम्पादक एवं अनुवादक काशीनाथ शास्त्री, 27.17 का हिन्दी अनुवाद । हेमचन्द्र के अभिधान-चिन्तामणि (4.242) में नीवार को वनव्रीहि कहा गया है ।
3. अष्टाङ्ग हृदय, 6.11 पर टीका ।
4. अष्टाङ्ग हृदय, 6.11 पर टीका ।
5. हेमचन्द्र ने अभिधान-चिन्तामणि (4.244) में ज्वार या जोन्हरी के 6 नाम गिनाए है -यवनाल, योनल, जूर्णाह्वय, देवधान्य, जोन्नाला, एवं बीजपुष्पिका । अमर कोश में ये सब नाम नहीं मिलते हैं ।
6. चरक ने इसे शिबिर कहा है, जो चक्रपाणिदत्त के अनुसार नीरभुक्ति में प्रसिद्ध था । चरक संहिता, 27.18 पर टीका ।

उद्दाल[1], वरू[2], कुबरक, उत्कट, मधूलिका, अन्तनिर्गडी, पणुपण, ...न्तिका,
...कूष्माण्ड, लौहित्य, तोदपर्णी, मुकुन्दक इत्यादि ।

इस वर्ग के अन्तर्गत चरक संहिता में केवल 18 धान्यों का स्पष्ट उल्लेख मिलता है, पर वाग्भट प्रथम[3] की अष्टाङ्ग-संग्रह-संहिता (7. 12-14) में कुल 23 धान्यों के नाम गिनाये गये हैं । ऊपर के रेखांकित नाम चरकसंहिता में नहीं मिलते हैं । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि पूर्व मध्यकाल में इन तुच्छ धान्यों के उत्पादन में भी कुछ वृद्धि एवं विस्तार हुआ होगा । पर वाग्भट द्वितीय के अष्टांगहृदय में इन धान्यों के नामों की पूरी तालिका नहीं दी गयी है ।

शिम्बी या शमी धान्य (दालें)

हेमचन्द्र के अभिधानचिन्तामणि (4. 237-41) में विभिन्न प्रकार की दालों के कई नाम गिनाये गये हैं :-

दाल		विभिन्न नाम
मसूर	-	मङ्गल्यक, मसूर
मटर	-	कलाय, सतीनक, हरेणु, खण्डिक
चना	-	चणक, हरिमन्थक
उड़द	-	माष, मदन, नन्दी, वृष्य, बीजवर, बली
हरे रंग की मूंग	-	मुद्ग, प्रथन, लोभ्य, बलाट, हरित, हरि
पीली मूंग	-	वसु, खण्डीर, प्रवेल, जय, शारद

---

1. उद्दाल कोदो का एक प्रकार रहा होगा । अभिधान-चिन्तामणि, 4. 243 .
2. चरक-संहिता (27. 18) में वरूक नाम मिलता है, जो सन का बीज प्रतीत होता है।
3. इनका काल हार्नलि के अनुसार 7वीं शताब्दी का प्रारम्भिक भाग था; अष्टांगहृदय, सम्पादक भिषगाचार्य हरिशास्त्री पराडकर, भूमिका, पृ0 5 .

काली मूँग – प्रवर, वासन्त, हरिमन्थज, शिम्बिक

वनमूँग – वनमुद्‌ग, तुवरक, निगूढक, कलानिक, खण्डी

राजमूँग (उत्तम जाति की मूँग) – राजमुद्‌ग, मकुष्ठक, मयुष्ठक

राजमाष (काला उरद) – वल्ल, निष्पाव, शतशिम्बिक

कुल्थी – कुलत्थ, कालवृन्त

छोटी कुल्थी – ताम्रवृन्ता, कुलत्थिका

अरहर – आढकी, तुवरा, वर्णा

ऊपर के रेखांकित नाम अमरकोश में नहीं मिलते हैं। इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि उनका अधिक प्रचलन पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण में हुआ होगा।

कुछ साहित्यिक स्रोतों से यह ज्ञात होता है कि पूर्व मध्यकाल में चने के कृषि-उत्पादन में विशेष विस्तार हुआ। प्राचीन काल में सुश्रुत ने चने (चणक) को कुधान्य के अन्तर्गत परिगणित किया था। चणक का पर्याय हरिमन्थक भी सुश्रुतसंहिता में मिलता है। अमरकोश (2.9.18) में भी चणक और हरिमन्थक दोनों शब्द चने के लिए मिलते हैं। यहाँ यह विचारणीय है कि प्राचीन काल में, जैसा कि अर्थशास्त्र से विदित होता है, घोड़ों को खिलाने के लिए यव का ही उपयोग होता था[1]। पर जयदत्त, नकुल, वाग्भट (विक्रम के पुत्र) आदि के अश्वायुर्वेद के ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि लगभग 500 ई० से चने का उपयोग घोड़ों को खिलाने के लिये भी होने लगा, और फलस्वरूप चने के उत्पादन का विस्तार होने लगा[2]।

---

1. पी०के०गोडे "स्टडीज इन दि हिस्ट्री ऑफ इण्डियन प्लान्ट्स-सम नोट्स आन दि हिस्ट्री ऑफ चणक"; जर्नल ऑफ भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द 27 (1946), पृ० 79.

2. वही, पृ० 79

वाग्भट के अश्वायुर्वेद (चणकविधि) में मिलता है कि प्रारम्भ में घोड़ों को खिलाने के लिये विन्ध्य के दक्षिण के क्षेत्र में ही चने का उपयोग होता था, और हिमालय से लेकर विन्ध्य तक के क्षेत्र में घोड़ों को यव खिलाया जाता था[1]। पर, जैसा कि पी० के० गोडे[2] महोदय ने सिद्ध किया है, लगभग 1000 ई० के बाद से यव पृष्ठभूमि में चला गया, और घोड़ों को चना खिलाने की प्रथा पूरे भारत में प्रचलित हो गयी। चना, गेहूँ एवं अन्य धान्यों की भाँति, मनुष्यों के भोजन में भी प्रयुक्त होने लगा[3]। पालकाप्य के हस्त्यायुर्वेद नामक ग्रन्थ से ज्ञात होता है कि यव, गोधूम एवं कलाय के साथ चना हाथियों को भी खिलाया जाने लगा[4]। पूर्व मध्यकाल में सामन्त-प्रथा एवं सैनिक आवश्यकताओं के कारण घोड़ों और हाथियों की संख्या में वृद्धि हुई होगी। उन्हें खिलाने के लिये चने के कृषि - उत्पादन में भी विचारणीय विस्तार हुआ होगा। चना रबी की फसल थी।

तेल के स्रोतभूत पौधे एवं पेड़

सरसों एवं राई - हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि (4.246) में सरसों के तीन नाम (सर्षप, कदम्बक एवं तन्तुभ) बताये गये हैं। श्वेत सरसों के भी दो नाम बताये गये हैं — सिद्धार्थ एवं श्वेत सर्षप। श्री वल्लभगणि की हेमचन्द्र द्वारा रचित निघण्टुशेष (श्लोक 399) पर टीका में यह मिलता है कि सामान्य लोग इसे "सरसव" कहते थे[5]।

---

1. वही, पृ० 79.
2. वही, पृ० 79.
3. वही, पृ० 79.
4. वही, पृ० 79.
5. एतस्य लोके "सरसव" इति प्रसिद्धिः।

निघण्टुशेष में राजिका (राई)[1] के निम्नलिखित नाम बताये गये हैं । (1) तीक्ष्णगंधा, (2) क्षुताभिजनन, (3) क्षव, (4) असुरी, (5) कृष्णिका ।

कृष्णसर्षप को राजसर्षप भी कहा गया है, जो सरसों का भेद लगता है[2] ।

अलसी – तीसी अथवा अलसी के तीन नाम हेमचन्द्र के अभिधान – चिन्तामणि (4.245) में मिलते हैं — उमा, क्षुमा और अतसी । अमरकोश (2.9.20) में भी यही तीनों नाम मिलते हैं ।

तिल – तिल के भी कई नाम अभिधान – चिन्तामणि (4.245–46) में मिलते हैं । षण्डतिल, तिलपेज और तिलपिंज फलहीन तिल के नाम दिये गये हैं । जर्तिल वन्य तिल का नाम बताया गया है (अभिधान – चिन्तामणि, 4.245) । अमरकोश में जर्तिल नाम नहीं मिलता है ।

अन्य पौधे एवं पेड़ – एरण्ड अथवा अरण्ड, लाल अरण्ड, नारियल, कुसुम्भ, करण्टा, महुआ, नीम आदि भी तेल के स्रोत थे[3] ।

मुख्य धान्यों की रूढ़ि संख्या

पूर्व मध्यकाल के स्रोतों में, जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, कई प्रकार के धान्यों के नाम मिलते हैं । पर इनकी खेती सर्वत्र एवं सभी कृषकों द्वारा नहीं की जा सकती थी । यह स्पष्ट है कि विभिन्न धान्यों की

---

1. लोके "राई" इति प्रसिद्धिः ।
2. कृष्णसर्षपो राजसर्षपः । निघण्टुशेष (श्लोक 399) पर श्री वल्लभगणि की टीका
3. चरक संहिता, 13.10–12 ; हारीत संहिता (6ठी–7वीं शताब्दी ईसवी), सम्पादक रामावलम्ब शास्त्री, प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, 1985, पृ० 73–76.

कृषि, उपयुक्त भूमि, जल की सुलभता, परम्परा, कृषकों के साधन, एवं आवश्यकता पर निर्भर करती थी। साधन-सम्पन्नता की दृष्टि से समृद्ध लोग ही कई प्रकार के धान्यों की कृषि करते रहे होंगे : सामान्य लोग सीमित साधनों के कारण कुछ धान्यों - विशेष रूप से तुच्छ धान्यों - की ही कृषि कर पाते रहे होंगे[1]। विभिन्न क्षेत्रों में मुख्य रूप से उत्पन्न की जाने वाली फसलों की संख्या उतनी विस्तृत न रही होगी। उदाहरणार्थ, जैसा कि गीर्वाणपदमंजरी[2] (17वीं शताब्दी ईसवी) से ज्ञात होता है, कान्यकुब्ज क्षेत्र में केवल निम्नलिखित फसलों का उत्पादन मुख्य रूप से होता था :-

> यव, व्रीहि, चणक, माष, राजमाष, मुद्ग, सर्षप, अतसी, तिल, मसूर, यवनाल, प्रियङ्गु, श्यामक, कोद्रव, तथा अन्य धान्य जिन्हें गिनाया नहीं गया है। यहाँ गोधूम का स्पष्ट उल्लेख नहीं है।

सम्भवतः यह छूट गया हो। यह भी हो सकता है कि इसकी कृषि बड़े पैमाने पर न की जाती रही हो, क्योंकि विशिष्ट वर्ग के उपभोग में ही यह आता रहा होगा। गीर्वाणपदमंजरी 17वीं शताब्दी ई० का ग्रन्थ है,

---

1. मुगलकाल में भी सामान्य लोग बहुत कम संख्या में फसलों को उगा पाते थे : इरफान हबीब, दि कैम्ब्रिज इकोनॉमिक हिस्ट्री, जिल्द 1, पृ० 217.
2. गीर्वाणपदमंजरी ऐण्ड गीर्वाण - वाङ्मंजरी, सम्पादक उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1960, पृ० 12.

पर पूर्व मध्यकाल में भी कृषि-उत्पादन की लगभग यही परम्परा होने का अनुमान लगाया जा सकता है, क्योंकि इन सभी धान्यों की खेती उस काल में होती थी। पूर्व मध्यकाल में धान्यों की रूढ़ि संख्या 17 मानी जाती थी। मेधातिथि ने अपने मनुस्मृति के भाष्य में 17 प्रकार के धान्यों का उल्लेख किया है[1]। हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाका - पुरुष - चरित्र में भी धान्यों की संख्या 17 बताई गयी है[2]। हेमचन्द्र के अभिधान-चिन्तामणि[3] की स्वोपज्ञ टीका तथा उसके निघण्टुशेष पर श्रीवल्लभगणि (17वीं शताब्दी विक्रमसंवत्) की टीका[4] में 17 प्रकार के धान्यों को निम्नलिखित रूप में गिनाया है :-

(1) व्रीहि

(2) यव

(3) मसूर

(4) गोधूम

(5) मुद्ग

(6) माष

(7) तिल

---

1. मनु0, 8.320 पर - धान्यं व्रीहियवादि सप्तदशानीतिस्मर्यते।
2. बी0 एन0 एस0 यादव द्वारा उद्धृत एस0 सी0 एन0 आई0, पृ0 259.
3. अभिधान चिन्तामणि 4.234 पर।
4. निघण्टुशेष, श्लोक 386 पर टीका।

(8) चणक

(9) अणु[1]

(10) प्रियङ्गु

(11) कोद्रव

(12) मयुष्ठक

(13) शालि

(14) आढक्य

(15) कुलाय

(16) कुलत्थ

(17) शण

ये मुख्य फसलें थीं । यहाँ शण को धान्य के अन्तर्गत माना गया है, पर वास्तव में यह धान्य नहीं था ।

शाक

शाक के वर्गीकरण में विस्तार –

चरक संहिता (27.124) में शाकवर्ग को पत्र, कन्द और मूल का आश्रयभूत माना गया है । इस प्रकार शाक के तीन वर्ग माने गये हैं । पर वृद्ध वाग्भट[2] की अष्टांग-संग्रह-संहिता (7.165) में शाक को 5 वर्गों में विभाजित किया गया है – पत्र, पुष्प, फल, नाल एवं कन्द ।

---

1. हेमचन्द्र की देशीनाममाला (1.52) में इसके लिये "अणव" और "अणुअ" शब्द भी मिलते हैं ।
2. हार्नलि के अनुसार वृद्ध वाग्भट या वाग्भट प्रथम की तिथि सातवीं शताब्दी ई0 के पूर्वार्ध में थी ; वाग्भट का अष्टांगहृदय, सम्पादक हरिशास्त्री पराडकर, भूमिका, पृ0 5.

वाग्भट[1] द्वितीय के अष्टाङ्ग हृदय (6.114) में भी यही वर्गीकरण मिलता है। अष्टाङ्ग हृदय (6.114) पर अरुणदत्त[2] (11वीं शताब्दी) की टीका में शाक के पाँचों वर्ग इस प्रकार दिये गये हैं — पत्रशाक, पुष्पशाक, फलशाक, नालशाक एवं कन्दशाक।

चरक ने शाकवर्ग और हरितवर्ग — पलाण्डु (प्याज), लशुन (लहसुन), गृञ्जनक (गाजर) आदि — को दो अलग-अलग वर्ग माना है। पर अष्टाङ्ग संग्रह, अष्टाङ्ग हृदय एवं हेमचन्द्र के अभिधान-चिन्तामणि में शाक वर्ग के अन्तर्गत ही हरितवर्ग को समाविष्ट कर लिया है।

शाक के भेद

हेमचन्द्र ने अभिधान-चिन्तामणि (4.249-250) में शाक के 10 भेद गिनाये हैं। ये निम्नलिखित हैं :-

(1) मूल (मूली आदि की जड़), (2) पत्र, (3) करीर (कोपल), (4) अग्र (वृक्षों के अग्र भाग), (5) फल (कद्दू आदि), (6) काण्ड (एरण्ड आदि की डालियाँ), (7) विरूढक (खेत से उखाड़े वृक्ष की जड़ के स्वेद से पुनः पैदा हुए अंकुर), (8) त्वक् (केले आदि के छिलके), (9) पुष्प (केले, अगस्त्य, करीर आदि के फूल), (10) कवक (वर्षा ऋतु में उत्पन्न होने वाला छत्राकार भूकन्द, या कुकुरमुत्ता)।

---

1. हार्नलि के अनुसार यह वाग्भट द्वितीय था जिसकी तिथि 8वीं-9वीं शताब्दी ई० थी ; वाग्भट का अष्टांगहृदय, भूमिका, पृ० 5.
2. चरक-संहिता, 27.88 और आगे ; 27.166-177.

अलाबुः दिये गये हैं । चरक संहिता , सुश्रुत संहिता , अष्टाङ्ग संग्रह एवं अष्टाङ्ग हृदय में शाकों के और भी नाम मिलते हैं , जैसे पिण्डालु (एक प्रकार का कन्द) , आलुक (एक कन्द जिसके कई भेद थे) , तर्कारी आदि[1] ।

मेथिका

मेथिका का उल्लेख अमरकोश में नहीं है । पी०के० गोडे[2] का यह कथन ठीक लगता है कि इसका उल्लेख 700 ई० के पहले नहीं मिलता । नकुल की अश्वचिकित्सा (1000ई० के पहले) में इसका नाम मिलता है[3] । जयदत्त के अश्ववैद्यक (शक संवत् 972) में भी मेथिका के पिण्ड को घोड़ों को एक शक्तिवर्द्धक के रूप में देने के लिये कहा गया है[4] । सोमेश्वर के मानसोल्लास[5] (12वीं शताब्दी) में भी मेथाक या मेथिका का उल्लेख मिलता है ।

शाक, मसाले, औषधि एवं शक्तिवर्द्धक (विशेषकर घोड़ों के लिये) के रूप में मेथिका का प्रयोग तथा उसकी खेती का प्रचार पूर्व मध्यकाल में हुआ होगा । 17वीं शताब्दी ई० के काल तक वाराणसी में पण्डितों में मेथीपत्र अथवा मेथिका-पत्र

---

1. अष्टाङ्ग हृदय, 6.85 , 94 , 97, अमरकोश में भी ये नाम कहीं कहीं कुछ अन्तर के साथ मिलते हैं ।
2. जर्नल आफ दि भण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द 33 (1952), पृ० 179.
3. वही , पृ० 179.
4. वही , पृ० 179.
5. मानसोल्लास, जिल्द 2, पृ० 124 , 125, 132 .

का प्रथम स्थान हो गया था[1]। मेथी के गुण के कारण सम्भवतः यह परम्परा अन्य क्षेत्रों में भी हो गई होगी।

शाक का महत्त्व

शाकों का भोजन में विशेष महत्त्व था। सोमदेव के नीतिवाक्यामृत[2] (10वीं शताब्दी ई0) के अनुसार, जिसके यहाँ खेती होती हो, गाय-भैंसे हों, शाकवाट या शाकवाटिका हो, और घर में मीठे पानी का कुआँ हो, उसे निस्संदेह संसार का सुख प्राप्त होता है। शाक का महत्त्व केवल समृद्ध व्यक्तियों के लिये ही नहीं था। क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी) के एक ग्रन्थ से पता चलता है कि निर्धन ग्रामीण तो कच्चे शाक को भी खाते थे[3]। कथासरित्सागर (11वीं शताब्दी) में शाक की बाड़ी के लिये शाकवाट, शाकवाटक एवं शाकवाटिका शब्द मिलते हैं[4]। अमरसिंह, हलायुध, हेमचन्द्र आदि के कोश ग्रन्थों में शाक-शाकट, शाकशाकिन एवं शाकिनी शब्द शाक के खेत के लिये मिलते हैं[5]। प्राचीन चम्बा राज्य के एक अभिलेख में भी शाकवाटिका का उल्लेख मिलता है[6]।

---

1. बहवः पत्रशाका वर्तन्ते तेषु प्रथमतः मेथीपत्रं ग्राह्यम्। गीर्वाणवाङ्मंजरी, पृ022, गीर्वाणपदमञ्जरी ऐण्ड गीर्वाणवाङ्मञ्जरी, सम्पादक उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, ओरियंटल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, 1960.
2. नीतिवाक्यामृत, सम्पादक एवं अनुवादक सुन्दरलाल शास्त्री, वाराणसी, 1976, 8.3. शुक्रनीति में तो ऐसी स्थिति स्वर्गलोक से भी बढ़कर बताई गई है। नीतिवाक्यामृत, पृ0 62, पादटिप्पणी 2.
3. निष्पाकशाकभोजस्य ग्रामीणस्य ......
4. मोनियर विलियम्स की ए संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी, पृ0 1061.
5. वही, पृ0 1061.
6. युगाकरवर्मन् का ब्रह्मोर ताम्रपत्र लेख, एन्टीक्विटीज आफ चम्बा स्टेट, पृ0 162, पंक्ति 10.

चरक संहिता (27.125–165), सुश्रुत संहिता, अष्टांग संग्रह (पृ0 28–29), अष्टाङ्ग हृदय (6.115–142) आदि वैद्यक के ग्रन्थों, हेमचन्द्र के निघण्टुशेष, एवं अभिधान चिन्तामणि (हेमचन्द्र का) आदि कोश-ग्रन्थों में फलों के कई प्रकारों के वर्णन एवं उल्लेख मिलते हैं ।

अभिधान-चिन्तामणि एवं निघण्टुशेष में जिन फलों का उल्लेख किया गया है, उनमें से मुख्य निम्नलिखित हैं :–

फल	
गूलर	उदुम्बरः, जन्तुफलः, यज्ञाङ्गः, हेमदुग्धकः (अभिधानचिन्तामणि, 4.198) ।
आम	आम्रः, चूतः, सहकारः (वही, 4.199) । हेमचन्द्र के निघण्टुशेष (श्लोक 121–122) में आम्र के 12 नाम मिलते हैं — रसालः, माकन्दः, कामाङ्गः, पिकवल्लभः, वनपुष्पोत्सवः, चूतः, परपुष्टमहोत्सवः, मधुदूतः, मधुफलः, मदिरासखः, मन्मथानन्दः, सहकारः[1] ।

---

1. मध्यकाल में "राजाम्र" शब्द कलमी आमों के विभिन्न प्रकारों के लिये प्रयुक्त होने लगा । कलमी आमों का विशेष प्रचलन बाद में मध्यकाल में हुआ । धनवन्तरि-निघण्टु, उमाकान्त प्रेमानन्द शाह द्वारा उद्धृत, गीर्वाणपदमंजरी ऐण्ड गीर्वाणवाङ्मंजरी, सम्पादक वही, ओरियंटल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1960, भूमिका, पृ0 62, पाद-टिप्पणी 223.

जामुन	जम्बू , महाफला , राजजम्बू , [illegible] , सुगन्धाख्या ।
	ये अच्छी कोटि के जामुन के नाम हैं ।
	निम्न कोटि की जामुन के नाम निम्न हैं :-
	काकजम्बू , कुजम्बुका , [illegible] , [illegible] (नदी जाता) , पैक्षिी , [illegible] ।
	(निघण्टुशेष , श्लोक 125) ।
केला	रम्भा , मोचा , कदली
	(अभिधान चिन्तामणि , 4.202) ।
महुआ	मधूक: , मधुष्ठील: , गुडपुष्प: , मधुद्रुम:
	(वही , 4.207) ।
बेर	कर्कन्धु , कुवली , कोलि: , बदरी
	(वही 4.204) ।
बेल	श्रीफल: , मालूर: , बिल्व:
	(वही , 4.201) ।
नारङ्गी	नागरङ्ग: , नारङ्ग:
	(वही , 4.209) ।
इमिली	अम्लिका , तिन्तिडी
	(वही , 4.209) ।

मौलश्री	वकुल: , केसर: (वही , 4.201) ।
सहिजना	शिग्रु: , शोभाञ्जन: , अक्षीव: , तीक्ष्णगन्धक: , मोचक: (वही , 4.200) ।
श्वेत सहिजना	श्वेतमरिच: (वही ,4.200) ।
जम्भीरी नींबू	जम्बीर: , जम्भ: , जम्भल: (वही , 4.215) ।
बिजौरा नींबू	मातुलुङ्ग: , बीजपूर: (वही , 4.216) ।
कपित्थ (कैथ)	कपित्थ: , दाधफल: (वही , 4.217) ।
आँवला	धात्री , आमलकी , शिवा (वही , 4.211) ।
बहेड़ा	कलि: , अक्ष: , विभीतक: (वही , 4.211) ।
हर्रे	हरीतकी , अभया, पथ्या

द्राक्षा (द्राख अंगूर)	द्राक्षा, गोस्तनी, मृद्वीका, हारहूरा (वही, 4.221)।
सुपारी	पूग:, क्रमुक:, गुवाक: (वही, 4.220)।
सुपारी का फल	उद्वेगम् (वही, 4.220)।
नारियल	नारिकेल:, लाङ्गली (वही, 4.217)। हेमचन्द्र के निघण्टुशेष (श्लोक 180) में नारिकेल का एक नाम "दाक्षिणात्य" भी मिलता है। इसका कारण यह है कि दक्षिण में यह अधिक होता था।
पियाल (चिरौंजी)	राजादन:, पियाल: (अभिधान-चिन्तामणि, 4.208)।

फलों के अन्तर्गत, विशेष रूप से वैद्यक के ग्रन्थों में, पनस[1] [illegible], खर्जूर[2], दाडिम[3], वाताम[4] (बादाम), अक्षोड[5] (अखरोट) [illegible] मिलता है । चरक संहिता, अमरकोश (2.4.61), में फल्गु (अंजीर) [illegible] उल्लेख मिलता है । पर दाडिम, वाताम, अक्षोड एवं फल्गु का उत्पादन कश्मीर एवं कुछ अन्य क्षेत्रों तक ही सीमित रहा होगा । काश्यपीय कृषिसूक्ति में हम इन फलों का उल्लेख नहीं पाते । इस ग्रन्थ में द्राक्षा, [illegible], [illegible], लिकुच, कदली, रसाल "आम" जम्बू (जामुन), नारिकेल, जम्बीर, द्राक्षा एवं खर्जूर के ही स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं (वही, श्लोक 631 और आगे) ।

काश्यपीय कृषिसूक्ति (श्लोक 729, 732, 738, 739) में [illegible] एवं फलों के साथ-साथ औषधियों के पौधों को विवर्धित करने एवं उद्यान आदि में वृक्ष लगवाने का भी विधान किया गया है । मल्लि, चम्पक आदि पुष्पों के पौधों को भी विवर्धित करने का उपदेश दिया गया है[6] ।

---

1. अष्टाङ्ग-संग्रह-संहिता, पृ0 28, श्लोक 169; अष्टाङ्ग-हृदय, 6.119, अमरकोश (2.4.60,61) में भी पणस (कटहर) और लकुच अथवा लिकुच (बड़हर) शब्द मिलते हैं ।
2. अष्टाङ्ग-संग्रह-संहिता एवं अष्टाङ्ग-हृदय, पूर्वोद्धृत स्थल पर ।
3. अष्टाङ्ग-संग्रह-संहिता, पृ0 28, श्लोक 168; अष्टाङ्ग-हृदय, 6.117. हेमचन्द्र की देशीनाममाला (1.15.12) में पिण्डीरम् शब्द अनार के लिये मिलता है । अबुल फज़्ल की आईने-अकबरी (2.257-द्वितीय संस्करण) से ज्ञात होता है कि 16वीं शताब्दी में "अनार, अनन्नास और नारंगी का उत्पादन विशेष रूप से गुजरात में सूरत से नोसरी जिले तक के क्षेत्र में होता था ।
4. अष्टाङ्ग-संग्रह-संहिता, पृ0 28, श्लोक 171; अष्टाङ्ग-हृदय, 6.120.
5. अष्टाङ्ग-संग्रह-संहिता, पृ0 28, श्लोक 171; अष्टाङ्ग-हृदय, 6.120.
6. काश्यपीय-कृषिसूक्ति, श्लोक 700.

काश्यपीयकृषिसूक्ति यद्यपि मध्यकाल की रचना है, फिर भी इसमें पूर्व-परम्परा के अनुपालन पर बल दिया गया है (उदाहरणार्थ, श्लोक 610) । अतः इसमें पूर्व मध्यकाल की भी परम्पराएँ समाविष्ट लगती हैं ।

शाकों , फलों एवं औषधियों के पौधों की उत्पादन-विधि के सम्बन्ध में

शाकों के सम्बन्ध में काश्यपीयकृषिसूक्ति (श्लोक 610) में कहा गया है कि उनका विवर्धन ऋतु एवं देश की उपयुक्तता को ध्यान में रखकर तथा परम्परा के क्रम में (परम्पर्यक्रमोद्भवम्) करना चाहिए । काल के रूप में इस सन्दर्भ में वसन्त, ग्रीष्म, हेमन्त एवं किसी भी अन्य अनुकूल काल का निर्देश किया गया है (श्लोक 620) । शाकादि के कृषि-कार्य के स्थान के सम्बन्ध में विशेष रूप से कहा गया है कि उसे बस्ती के समीप जलाशय के निकट होना चाहिए । इसका कारण यह था कि शाकादि की कृषि में देख-भाल एवं सिंचाई की विशेष आवश्यकता पड़ती थी । पटोला (परवल) आदि शाकों एवं कदली आदि फलों के उत्पादन के लिये घर, खेत, विहार-भूमि , क्रीडा-स्थल, उद्यान, वापी एवं ह्रद के तट, जलाशय के ऊपर के भाग एवं उसके समीप के निचले भाग को उपयुक्त स्थान बताया गया है (श्लोक 663, 664) । शाकादि के सम्बन्ध में बीजस्थापन, तृणापकर्षण (निराना), तथा उनके पत्तों पर कीड़े (कीट) लगने की स्थिति में उन पर भस्म (राख) एवं धूलि के क्षेपण एवं उनकी शुद्धि (धुलाई) के लिए प्रयुक्त होने वाला चना (?)-मिश्रित जल से सींचने का भी निर्देश किया गया है (श्लोक 648 , 649) ।

चरक-संहिता (27.238) में इक्षु के केवल दो प्रकार बताये गये हैं । पर सुश्रुत (45.63) ने उसके 12 नाम अथवा भेद बताये हैं । अष्टाङ्ग-संग्रह तथा अष्टाङ्ग-हृदय एवं उसके टीकाकारों ने इक्षु के सभी प्रकारों को नहीं गिनाया है । उन्होंने "आदय:" (इत्यादि) कहकर छोड़ दिया है । पर निघण्टुशेष में हेमचन्द्र (12वीं शताब्दी) ने ग्यारह प्रकार के इक्षुओं का उल्लेख किया है[1] । श्री वल्लभगणि की टीका में वाचस्पति का उद्धरण देते हुए ये सभी भेद गिनाये गये हैं, यथा पुण्ड्र, भीरुक, शून्येश्वर, कोषकार, शतघोर[2], तापस, नेपाल, दीर्घमत्र, काष्ठेक्षु, नीलघोर और खर्नटी । ये नाम कहीं-कहीं कुछ अन्तर के साथ वही हैं जो सुश्रुत-संहिता में मिलते हैं । पर सुश्रुत-संहिता के सूचीपत्रक को वाचस्पति ने इक्षु का अलग भेद नहीं माना है । हेमचन्द्र ने भी असिपत्रक को गन्ने का एक नाम माना है, भेद नहीं (अभिधान चिन्तामणि, 4.260) ।

---

1. तस्यैकादशभेदा: स्यु: । हेमचन्द्र का निघण्टुशेष, श्रीवल्लभगणि की टीका (विक्रम संवत् की 17वीं शताब्दी) के साथ, सम्पादक मुनिराज श्री पुण्यविजय जी एवं लालभाई दलपत भाई, भारतीय संस्कृत विद्यामंदिर, अहमदाबाद, 1968, श्लोक 373.

2. सुश्रुत-संहिता में इसे शतपोरक एवं अष्टाङ्ग-हृदय की टीकाओं में शतपर्व कहा गया है ।

भोजपुरी क्षेत्र में इसी नाम से जानी जाती है[1] ।

कर्पास के लिये जितने नाम अमरकोश (2.4.116) में मिलते हैं, सभी हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि में तो नहीं, पर निघण्टुशेष में मिलते हैं । तुण्डिकेरी, समुद्रान्ता[2], कर्पासी, एवं बदरा । जंगली (वन्य) कपास के लिये भारद्वाजी शब्द अमरकोश (2.4.116) एवं निघण्टुशेष (श्लोक 157) दोनों में मिलता है । पर हेमचन्द्र के अभिधान-चिन्तामणि (4.205) में कपास के लिये पिचव्यः शब्द भी मिलता है, जो अमरकोश में नहीं है । इसी प्रकार उनके निघण्टुशेष (श्लोक 157) में भी कपास के भद्रा प्रकार का उल्लेख मिलता है, जो चन्दनवीजिका के नाम से जाना जाता था । यह प्रकार अमरकोश में नहीं मिलता । इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में कपास के वर्गीकरण में भी कुछ विस्तार मिलता है ।

अभिलेखों से कृषि-उत्पादन पर प्रकाश

पूर्व मध्यकाल के अभिलेखों से कृषि से उत्पादन पर समुचित प्रकाश नहीं पड़ता । केवल कुछ अभिलेखों में ही हम कुछ अनाजों, फलों आदि के उल्लेख पाते हैं ।

राजस्थान में पहले के जोधपुर राज्य के बाली जिले के एक ग्राम से मिले एक अभिलेख[3] (विक्रम सं० 996) में गोधूम, यव, मुद्ग एवं कर्पास का

---

1. वही, भूमिका, पृ० 11.

2. क्षीरस्वामी के अनुसार, इसके समुद्रान्ता नाम का एक सम्भावित कारण इसका दूर तक प्रसरण (दूरप्रसराद् वा) रहा होगा (अमरकोश, 2.4.116 पर टीका) ।

3. ई० आई० , जिल्द 10, पृ० 24.

उल्लेख मिलता है । मारवाड़ के चौहानों के अभिलेखों में हम यव[1], युगन्धर्याः[2] ﴾ज्वार﴿, गोधूम[3], मुग[4] ﴾मूँग﴿, चोखा[5] ﴾धान﴿ के नाम पाते हैं । राजस्थान के एक अभिलेख[6] में गन्ने ﴾इक्षु﴿ का भी उल्लेख मिलता है

गुजरात के संकेडा नामक स्थान से प्राप्त एक अभिलेख[7] ﴾7वीं शताब्दी से बाद का नहीं﴿ में व्रीहि का उल्लेख मिलता है । हेमचन्द्र की देशीनाममाला ﴾1. 15, 12﴿ में पिण्डीरम् ﴾अनार﴿ का उल्लेख है, पर यह गुजरात के किसी अभिलेख में नहीं मिलता है ।

मालवा के परमारों के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि धान, कोद्रव, तिल, मुद्ग ﴾मूँग﴿, व्रीहि, कणिक (Communi-Seed), आदि का उत्पादन उस क्षेत्र में होता था[8] । इस क्षेत्र में गेहूँ और जौ के भी उत्पादन का साक्ष्य मिलता है[9] । अफीम और नील की भी खेती होती थी[10] ।

---

1. वही, जिल्द 11, पृ0 30, 51.
2. वही, जिल्द 11, पृ0 47.
3. वही, जिल्द 11, पृ0 56, 57.
4. वही, उपर्युक्त उद्धृत पृष्ठ ।
5. वही, उपर्युक्त उद्धृत पृष्ठ ।
6. ई0आई0, जिल्द 14, पृ0 300. मध्य भारत के कुछ अभिलेखों में भी इक्षु का उल्लेख मिलता है ﴾ ई. आई., जिल्द 20, पृ0 131; इंडियन एंटीक्वेरी, जिल्द 16, पृ0 208﴿.
7. ई0आई0, जिल्द 2, पृ0 24 ﴾पंक्ति 10﴿ ।
8. ई0आई0, जिल्द 33, पृ0 195.
9. वही, जिल्द 14, पृ0 309.
10. वही । पर, जैसा कि हमीदा खातून नकवी ने निष्कर्ष निकाला है, लगभग 1200 ईसवी के पहले के स्रोतों में अफीम के उपयोग के साक्ष्य नहीं मिलते । संस्कृत कोशों

इक्षु एवं कपास की भी कृषि की जाती थी[1] । अभिलेखों एवं समकालीन साहित्यिक ग्रन्थों से पान , नारियल , खजूर , आम एवं महुये के उत्पादन की भी जानकारी मिलती है[2] ।

बुन्देलखण्ड का क्षेत्र अधिक उपजाऊ नहीं था । लेकिन चन्देल अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वहाँ भी अनाज के अतिरिक्त गन्ना , कपास , अफीम आदि की खेती होती थी[3] । चन्देल नरेश परमर्दि देव के महोबा दान-पत्र[4] में इक्षु , कपास , पुष्पों के पौधों , सण (सन) , आम्र एवं मधूक (महुआ) का उल्लेख मिलता है । इसी नरेश के पचार दान-पत्र[5] में भी इक्षु, कपास एवं कोरडे (कोद्रव) के नाम मिलते हैं ।

बंगाल में ब्राह्मणों को दान दिये गये भूमि क्षेत्रों में शालि के प्रचुर उत्पादन का साक्ष्य वहाँ के अनुलिया दान-पत्र[6] में मिलता है । एक वर्मन् नरेश के अभिलेख[7] (11वीं-12वीं शताब्दी) से आम्र , पनस , गुवाक (सुपाड़ी) और नारिकेल (नारियल) के उत्पादन के सम्बन्ध में ज्ञात होता है ।

(अमरकोश के बाद के) में अफीम के लिये "अहिफेन" शब्द मिलता है, और अमीर खुसरो ने इसके लिये "कोकनार" शब्द दिया है । अफीम की खेती का विस्तार एवं प्रसार मध्यकाल में ही हुआ होगा । इंडियन जर्नल ऑफ हिस्ट्री ऑफ साइंसेज, जिल्द 19 , नं0 3 (1984), पृ0 136.

1. वही ।
2. के0सी0 जैन , मालवा थ्रू दि एजेस, मोतीलाल बनारसीदास , दिल्ली , 1972, पृ0 498.
3. ई0आई0, जिल्द 17, पृ0 209; डॉ0 अयोध्या प्रसाद पाण्डेय, चन्देलकालीन बुन्देलखण्ड का इतिहास , हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1968, पृ0 190.
4. ई0आई0, जिल्द 16 , पृ0 13-14.
5. वही, जिल्द 10, पृ0 48, पंक्तियाँ 8, 14.
6. इन्सक्रिप्षान्स आफ बंगाल, 3. 85-86; रामचरित (3. 17) में सन्ध्याकर नन्दी ने भी धान के उत्पादन के कारण बंगाल के वरेन्द्री क्षेत्र की समृद्धि का उल्लेख किया है।
7. ई0आई0 , जिल्द 30, पृ0 263.

प्राचीन चम्बा राज्य के एक अभिलेख[1] में "अल्लवाट" शब्द मिलता है, जिससे वहाँ अदरख की खेती का अनुमान लगाया जा सकता है।

किसी क्षेत्र के अभिलेखों के नकारात्मक साक्ष्य के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि वहाँ किसी फसल को नहीं उगाया जाता था। उदाहरणार्थ, पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं मगध में गन्ना की अच्छी खेती का उल्लेख कन्नौज नरेश यशोवर्मन् (8वीं शताब्दी ईसवी) के दरबारी कवि वाक्पतिराज – जो यथार्थ चित्रण के लिये प्रसिद्ध हैं– के गौडवहो[2] में स्पष्ट रूप से मिलता है। पर गुर्जर-प्रतीहारों एवं गाहडवालों के अभिलेखों में हम इक्षु अथवा किसी धान्य का उल्लेख नहीं पाते[3]। इस प्रकार समकालीन साहित्यिक स्रोत कृषि-उत्पादन पर अधिक प्रकाश डालते हैं।

कृषि-उत्पादन में विभिन्न क्षेत्रों की विशिष्टता जानने का प्रयास

पूर्व मध्यकाल में कृषि-उत्पादन के क्षेत्र में विभिन्न क्षेत्रों की विशिष्टता जानने का भी प्रयास किया गया। जैन धर्म-ग्रन्थ धर्मामृत (सागार) की आशाधर (12वीं-13वीं शताब्दी) विरचित टीका में मिलता है कि उत्तरापथ में

---

1. जे०के० शर्मा, हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि चम्बा स्टेट में, सम्पादक वी०सी० ओहरी, बुक्स एण्ड बुक्स, नई दिल्ली, 1989, पृ० 70.
2. गौडवहो, सम्पादक एन०जी०सूरू, प्राकृत टेक्स्ट सोसाइटी, अहमदाबाद, वाराणसी, 1975, श्लोक 392.
3. बी०पी०मजूमदार ने आश्चर्य व्यक्त किया है कि गाहडवालों के अभिलेखों में वर्तमान उत्तर प्रदेश में गन्ने की खेती का कोई उल्लेख नहीं मिलता, जबकि आज यह राज्य ईख की खेती के लिये प्रसिद्ध है; सोशियो-ईकोनॉमिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया (1030-1194), पृ० 180. वास्तव में गाहडवाल अभिलेखों में खेती से उत्पन्न होने वाली वस्तुओं के उल्लेख की परम्परा ही नहीं मिलती।

धान्यों में गोधूम (गेहूँ) का प्राधान्य था, भारत के पश्चिमी भाग में इक्षु की खेती सुलभ थी, और पूर्वदेश में शालि आदि का प्राधान्य था[1]। पर इससे यह निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता कि गन्ने की खेती में केवल पश्चिम देश का प्राधान्य था। अन्य स्रोतों से बंगाल की प्रसिद्धि इस क्षेत्र में अधिक प्रतीत होती है[2]।

अपरार्क[3] ने मगध को धान में समृद्ध बताया है। मानसोल्लास[4] में कलिंग के धान की प्रशंसा मिलती है। पर अन्य क्षेत्रों में भी धान के उत्पादन किये जाने के साक्ष्य मिलते हैं। उदाहरणार्थ, हेमचन्द्र ने गुजरात में धान के खेतों का उल्लेख किया है, जिनकी रखवाली कृषकों की स्त्रियाँ करती थीं[5]। पर वास्तव में धान के लिये बंगाल सबसे अधिक प्रसिद्ध था। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, शालि के एक प्रकार (पुण्ड्र) का नाम ही पुण्ड्र देश के आधार पर पड़ा था।

---

1. उत्तरापथे गोधूमप्रधानानि धान्यानि। पश्चिमदेशे सुलभा इक्षवः। पूर्वदिशो शालिमधादिप्रधानः। धर्मामृत (सागार), सम्पादक कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, 1978, पृ० 163.
2. द्रष्टव्य आगे।
3. याज्ञवल्क्य-स्मृति, 1.212 पर भाष्य।
4. मानसोल्लास, विंशानि 3.1347.
5. इण्डियन एंटिक्वेरी, जिल्द 4, पृ० 74.

बंगाल इक्षु (गन्ने) के लिये भी विशेष प्रसिद्ध था। जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, गन्ने के भी एक प्रकार का नाम पुण्ड्र था। इस प्रकार का गन्ना पुण्ड्र देश में ही विशेष रूप से उत्पन्न किया जाता रहा होगा।

पूर्व मध्यकाल में कृषि से उत्पादन की स्थिति

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि पूर्व मध्यकाल में कृषि का विस्तार हुआ एवं कृषि-उत्पादन में वृद्धि हुयी। प्राचीन काल के वैद्यक ग्रन्थों-चरक-संहिता एवं सुश्रुत-संहिता - में मिलने वाले धान्यों, शाकों एवं फलों के नामों एवं प्रकारों की अपेक्षा पूर्व मध्यकाल के वैद्यक ग्रन्थों-वाग्भट प्रथम की अष्टाङ्ग-संग्रह-संहिता, वाग्भट द्वितीय का अष्टाङ्ग हृदय आदि-तथा टीकाओं चक्रपाणिदत्त की चरक-संहिता पर टीका, अरुणदत्त एवं हेमाद्रि की अष्टाङ्ग हृदय पर टीकाओं - में उनके अधिक नामों एवं प्रकारों के उल्लेख मिलते हैं। उदाहरणार्थ, चरक-संहिता एवं सुश्रुत संहिता में शालि के क्रमशः 19 एवं 17 नामों एवं प्रकारों के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं। पर वाग्भट द्वितीय के अष्टाङ्गहृदय में इसके 30 नामों एवं प्रकारों को गिनाया गया है[1]। यही स्थिति अमरकोश और पूर्व मध्यकाल के कोशग्रन्थों- हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि एवं निघण्टुकोष, आदि — में मिलने वाले धान्यों, फलों आदि के नामों एवं प्रकारों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होती है[2]। अभिलेखों में, जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, धान्यों, फलों आदि के नाम अधिक नहीं मिलते। फिर भी पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण (लगभग 10वीं-11वीं से 12वीं शताब्दी) में ये अपेक्षाकृत अधिक संख्या में मिलते हैं[3]। इससे यह प्रतीत होता है कि इस काल के द्वितीय चरण में कृषि एवं इससे उत्पादन में विशेष विस्तार एवं वृद्धि हुयी होगी।

---

1. द्रष्टव्य ऊपर।

इस काल में सामन्त शासकों, सरदारों एवं भूमिपतियों के एक विशिष्ट वर्ग के उदय के कारण उनके उपयोग के लिये शालि आदि उत्तम कोटि के धान्यों फलों, शाकों आदि की आवश्यकता बढ़ी होगी । इस प्रकार उत्तम कोटि के धान्यों आदि का उत्पादन भी बढ़ा होगा । निम्नकोटि के धान्यों की फसलें सामान्य एवं गरीब लोगों द्वारा अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिए उगायी जाती रही होंगी । पूर्व मध्यकाल में कोद्रव, चना एवं मेथिका की कृषि में भी विस्तार के साक्ष्य मिलते हैं ।

पूर्व मध्यकाल के कुछ स्रोतों में कृषि का अत्यधिक महत्त्व मिलना भी आर्थिक जीवन में कृषि का पलड़ा भारी होने एवं कृषि-उत्पादन की वृद्धि से संबंधित लगता है । <u>कृषिपराशर</u> (श्लोक 3) में कहा गया है कि कृषि से सम्बन्धित व्यक्ति इस लोक में सर्वोच्च भूपति बन सकता है —

कृष्यान्वितो हि लोके ऽस्मिन् भूयादेकश्च भूपतिः । कृषि को "धन्या" (धन्य) एवं "मेध्या" (पावन) बताया गया है (वही श्लोक 8)। <u>पराशरस्मृति</u> में भी कृषि को सभी वर्णों का सामान्य धर्म माना गया है (कृषिस्तु सर्ववर्णानां सामान्यो धर्म उच्यते) । <u>अपराजित पृच्छा</u> (पृ० 186-88) के "शस्यावतार" अध्याय में भी कृषि की प्रशंसा मिलती है । इसमें कृषि को कलियुग में देवता की भाँति अवतरित होते बताया गया है ।

पर पूर्व मध्यकाल में कृषि से उत्पादन निर्बाध नहीं था । अनावृष्टि, अतिवृष्टि आदि प्राकृतिक आपदाओं के अतिरिक्त सैन्य-प्रचार, युद्धों आदि से भी कभी-कभी फसलों को विशेष क्षति पहुँचती थी । अनावृष्टि एवं अतिवृष्टि के फलस्वरूप अकाल पड़ जाता था और विपन्न लोग अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र चले जाते थे । इससे भी कृषि-उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता था ।

इस काल के कुछ स्रोतों में कृषि के उपद्रवों के महत्त्वपूर्ण उल्लेख मिलते हैं । प्रजा को ईतियों से बचाने का आदर्श कालिदास के रघुवंश (I.63) में मिलता है । अमरकोश (3.3.69) में ईति शब्द का अर्थ उपद्रव या प्रवास (विदेश में रहना) बताया गया है । निशीथचूर्णि (7वीं शताब्दी) में कृषि को ईतियों से बचाने का उल्लेख मिलता है[1]। कृषि की 6 ईतियों (सस्योपद्रवों) को भट्टोत्पल ने अपनी बृहत्संहिता पर टीका में गिनाया है[2]।

अतिवृष्टि, अनावृष्टि, मूषक (चूहे), शलभ (पतिंगे), शुक (तोते), और राजाओं का अधिक निकट रहना (अत्यासन्नाश्च राजानः)।

---

1. मधु सेन, ए कल्चरल स्टडी ऑफ दि निशीथचूर्णि, पृ0 193.
2. बृहत्संहिता, 5.52 पर भट्टोत्पल । कामन्दक ने भी इसी प्रकार 6 ईतियों को गिनाया था - रघुवंश (1.63) की टीका में मल्लिनाथ द्वारा उद्धृत ।

नरपतिजयचर्यास्वरोदय[1] से ज्ञात होता है कि 12वीं शताब्दी तक आते-आते ईतियों की संख्या 7 मानी जाने लगी । इस ग्रन्थ में अन्तिम ईति (अत्यासन्नाश्च राजानः) की जगह "स्वचक्रं परचक्रं च" मिलता है । इस प्रकार अपने देश के राजा एवं बाह्य आक्रमणकारी के सैन्य प्रचार से कृषि को क्षति पहुँचती रही होगी । कल्हण की राजतरंगिणी (8.5) में राजकीय सेना द्वारा लूट-पाट का उल्लेख मिलता है । सोमदेव के नीतिवाक्यामृत[2] में भी लवन-काल में अपने राजा के सैन्य प्रचार से कृषि की क्षति का उल्लेख मिलता है । सोमेश्वर के मानसोल्लास[3] (12वीं शताब्दी) में आक्रमणकारी राजा द्वारा शत्रु नरेश के देश में खेत में खड़ी फसल का अपहरण करना, खलिहान से अनाज उठा ले जाना, किसानों को बन्दी बनाना, जलाशयों को तोड़ना, पशुओं का हरण करना, गाँव में आग लगाना आदि उचित बताये गये हैं ।

---

1. वही, सम्पादक गणेशदत्त पाठक, चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी 1971, पृ0 109, श्लोक 15.

2. वही, अनुवादक एवं सम्पादक सुन्दरलाल शास्त्री, वाराणसी, 1976, पृ0 158.

3. मानसोल्लास, खण्ड I, सम्पादक जी0के0 श्रीगोण्डेकर, बड़ौदा, 1925, श्लोक 1034-43. द्रष्टव्य बी0एन0एस0 यादव, एस0सी0एन0आई0, पृ0 223.

अध्याय 5

कूटक

कृषक

कृषकों और कृषि-कर्मकरों से सम्बन्धित शब्दावली

अमरकोश[1] में कृषकों के लिये चार शब्द मिलते हैं -- क्षेत्राजीव., कर्षक, कृषीवल एवं कीनाश । बारहवीं शताब्दी में हेमचन्द्र ने अपने अभिधान चिन्तामणि[2] नामक कोश में इनके लिये सात शब्द दिया --
कुटुम्बी, कर्षक, क्षेत्री, हली, कृषिक, कार्षिक एवं कृषीवल । हेमचन्द्र के अनेकार्थसंग्रह[3] में कीनाश शब्द भी कर्षक के लिये दिया गया है । भट्टोत्पल ने बृहत्संहिता (5.29, 5.34) की टीका में कर्षक का अर्थ कृषिकर और कृषिकार बताया है । कृषिपराशर में कृषक (श्लोक 146, 163), कृषाण (श्लोक 165, 176, 192, 194), एवं कर्षक (श्लोक 215) शब्द मिलते हैं । काश्यपीय-कृषिसूक्ति में कृषिजीवी[4] (श्लोक 188), कृषिकार (श्लोक 308), एवं कृषीवल (श्लोक 307) के उल्लेख हैं । 11वीं एवं 12वीं शताब्दियों में कश्मीर में, जैसा कि कथासरित्सागर[5] --

---

1. वही, 2,9,6,
2. वही, 3.554.
3. चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, 1964, पृ0 107.
4. कृषिजीवी शब्द मनुस्मृति (3.155) में भी मिलता है ।
5. मोनियर विलियम्स, ए संस्कृत-इंगिलश डिक्शनरी, पृ0 276.

एवं राजतरंगिणी[1] से ज्ञात होता है, कार्षक[2] शब्द छोटे कृषकों के लिये प्रयुक्त होने लगा था । ये कृषक या तो स्वयं अपनी खेती करते थे या भृतकों द्वारा करवाते थे । अधिया-बटायी पर खेती करने वालों के लिये मनुस्मृति {4.253} में आर्धिक और याज्ञवल्क्य-स्मृति {आचाराध्याय, श्लोक 166} में अर्धसीरी शब्द मिलते हैं[3] । मनु के भाष्यकार मेधातिथि[4] ने आर्धिक शब्द का अर्थ कुटुम्बी[5] और भूमि-कर्षक बताया है । हल जोतने वाले कर्मकरों के लिये भी पूर्व मध्यकाल में अधिक शब्द मिलते हैं । अमरकोश {2.9.64} में इनके लिये हालिक एवं सैरिक शब्द मिलते हैं । पर छठी शताब्दी से बारहवीं शताब्दी के काल के साहित्य में हम इनके लिये लाङ्गलोपजीवी[6], वाह[7], हलवाहक[8], भाइल्ला[9] आदि शब्दों

1. राजतरंगिणी, 5.169.
2. कार्ष शब्द दिव्यावदान में खेती करने वाले के लिये मिलता है {मोनियर विलियम्स, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ एवं पृष्ठ} । इसी से कार्षक शब्द बना है जो छोटे कृषक का बोध कराता है । राजतरंगिणी के ऊपर उद्धृत श्लोक में यह शब्द निन्दापरक अर्थ में खेती कराने वाले कश्मीर के एक राजा के लिए प्रयुक्त किया गया है ।
3. अर्थशास्त्र {2.24.16; 3.11.23;3.13.9} में इनके लिये अर्धसीतिक शब्द मिलता है।
4. मनु, 4,253 पर ।
5. अर्थशास्त्र के एक टीकाकार, भट्टस्वामिन् {12वीं शताब्दी} ने कृषि-फल का आधा भाग लेकर खेती करने वालों को "ग्राम्यकुटुम्बिनः" कहा है । जे० बी० ओ० आर० एस०, जिल्द 12, भाग 2, पृ० 137.
6. बृहत्संहिता, 4.9 पर भट्टोत्पल की टीका ।
7. मनु०, 9.150 पर मेधातिथि ।
8. लक्ष्मीधर का व्यवहारकाण्ड, पृ० 402 {पादटिप्पणी 3}, 403 {पादटिप्पणी 2}, चण्डेश्वर का विवादरत्नाकर, पृ० 159.
9. हेमचन्द्र की देशीनाममाला, 6.104.

को भी पाते हैं । लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) के व्यवहारकाण्ड (पृ0 401-2) में हम बृहस्पतिस्मृति (16. 1-2) का उद्धरण पाते हैं, जिसमें कृषि-फल का 1/3 या 1/5 भाग पाने वाले सीरवाहक भृतकों का उल्लेख है । ये भागभृत[1] भी हल जोतने वाले कर्मकर थे । अभिलेखों[2] में कर्षक, क्षेत्रकर, कुटुम्बी, आर्धिक, हालिक[3] आदि मिलते हैं ।

ऊपर दिये गये शब्दों में से अधिकांश का सर्वत्र मिलने वाला कोई स्थिर अर्थ नहीं था, और वे कृषकों एवं कृषिकरों के विभिन्न स्तरों के द्योतक नहीं कहे जा सकते हैं । सन्दर्भ के अनुसार उनके विभिन्न अर्थ मिलते हैं । उदाहरणार्थ, पराशर-स्मृति (2. 13, 16 इत्यादि) में कर्षक शब्द सभी प्रकार के कृषकों एवं कृषिकरों के लिये प्रयुक्त किया गया है, पर कृषिपराशर के एक श्लोक (215) से यह संकेत मिलता है कि कृषक खेती कराने वाले थे और कर्षक उनके कर्मकर होते थे । यहाँ कृषकों के लिये कर्षक द्वारा मेधि-निर्माण का उल्लेख मिलता है । इसी प्रकार कृषक, कृषाण, कृषिकार एवं कृषीवल शब्द अधिकतर अपनी कृषि करने या कराने वालों के लिये प्रयुक्त किये गये हैं । पर बृहस्पति स्मृति में, जिसका उद्धरण लक्ष्मीधर के व्यवहारकाण्ड (पृ0386) में भी मिलता है, कृषीवल शब्द

---

1. बृहस्पतिस्मृति, 15.14.
2. बी0एन0एस0यादव, आई0एच0आर0, जिल्द 3, नं0 1, पृ0 47.
3. फोगेल, ऐंटीक्विटीज आफ चम्बा स्टेट, पृ0 167.

कृषि-कार्य में लगाये जाने वाले भृतकों के लिये प्रयुक्त किया गया है। हालिक, वाह, हलवाहक, लाङ्गलोपजीवी आदि शब्द पूर्व मध्यकाल में हल जोतने वाले कर्मकरों के लिये ही मिलते हैं। कीनाश को भी इस काल के कुछ कोशों[1] में इसी प्रकार का कर्मकर बताया गया है। इस प्रकार पूर्व मध्यकाल में अपनी कृषि करने या कराने वाले एवं कृषि-कर्मकरों से सम्बन्धित शब्दावली में काफी विस्तार दृष्टिगोचर होता है, जो उस काल में कृषि के विकास एवं विस्तार का सूचक है।

पूर्व मध्यकाल में, जैसा कि बी०एन०एस० यादव[2] ने स्पष्ट किया है, आर्धिकों के वर्ग का काफी विस्तार हुआ। उनके अनुसार इसका सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य यह है कि पराशरस्मृति में आर्धिक की परिकल्पना एक मिश्रित जाति के रूप में की गयी है[3]। इस प्रकार अधिया-बटाई की प्रथा का विशेष विकास हुआ। आर्धिकों को उपज का आधा भाग दिया जाता था। पर आर्धिक शब्द उपलक्षण से उन कृषकों का भी बोधक हो गया जिनको कृषिफल में आधे से कम भाग दिया जाता था[4]। ये आर्धिक पूर्वोल्लिखित भागभृतों से भिन्न थे।

---

1. कर्मकरस्तु कीनाशे भृत्ये वेतनजीविनि--विश्वप्रकाश कोश- महेश्वर सूरिरचित (शक सं० 1033), पृ० 143, श्लोक 227.
2. आई० एच० आर०, जिल्द 3, नं० 1, पृ० 48-9.
3. वैश्यकन्यासमुद्भूतो ब्राह्मणेन तु संस्कृतः ।
   सो ह्यार्धिक इति ज्ञेयो भोज्यो विप्रैर्न संशयः ॥
   (ब्राह्मण द्वारा वैश्य-कन्या से उत्पन्न सन्तान का संस्कार कर देने से वह सन्तान आर्धिक कहलाती है। इसका अन्न ब्राह्मणों को ग्राह्य होता है)। पराशरस्मृति, 11.25

आर्धिकों को अपनी कृषि की व्यवस्था करने का पूर्ण या आंशिक अधिकार रहा होगा, पर भागभुत एक प्रकार के कर्मकर थे जिन्हें कृषक की व्यवस्था के अन्तर्गत कार्य करना पड़ता था । इसके अतिरिक्त आर्धिक अपने श्रम के अतिरिक्त हल, बैल एवं बीज में से भी सभी या उनमें से कुछ अधिया पर की जाने वाली कृषि में लगाते रहे होंगे ।

कुटुम्बी शब्द का भी पूर्वमध्यकाल में अर्थ-विस्तार दृष्टिगोचर होता है । प्राचीन काल में, जैसा कि प्रो० शिवेश चन्द्र भट्टाचार्य[1] ने स्पष्ट किया है, कुटुम्बी समृद्ध गृहस्थ होते थे, जो केवल कृषि से ही नहीं अपितु व्यापार एवं कुसीद से भी सम्बन्धित होते थे । पर जैसा कि ऊपर देखा जा चुका है, पूर्व मध्यकाल में कुटुम्बी मुख्य रूप से कृषि से ही सम्बन्धित हो गये और उनमें से बहुत से अधिया-बटाई पर काम करने लगे[2] । यह सामान्य स्वतंत्र कृषकों की स्थिति के ह्रास का सूचक है ।

कृषकों का वर्गीकरण

हल के आधार पर वर्गीकरण

शाकटायन व्याकरण[3] की अमोघ-वृत्ति (नवीं शताब्दी) नामक स्वोपज्ञ

---

1. सम ऐस्पेक्ट्स ऑफ इंडियन सोसाइटी फ्राम सर्का सेकेंड सेंचुरी बी०सी०टू सर्का फोर्थ सेंचुरी ए०डी०, पृ० 129 और आगे, 248.
2. मनु 4.253 पर मेधातिथि ।
3. शाकटायन व्याकरण, सम्पादक शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1944, पृ० 150, 2.1.196 पर स्वोपज्ञ टीका ।

टीका में हम कृषकों के एक वर्गीकरण का संकेत हल की संख्या के आधार पर पाते हैं :-

§1§ जिसके पास निज का बड़ा अथवा सामान्य हल न हो §अहलि:, अहल:§[2]

§2§ जिसके पास निज का पुराना, घिसा हुआ बड़ा अथवा सामान्य हल हो §दुर्हलि:, दुर्हल:§ ।

§3§ जिसके पास निज का बड़ा अथवा सामान्य उत्तम हल हो §सुहलि:, सुहल:§ ।

§4§ जिसके पास बहुत से उत्तम हल हों §बहुहलि: पुरुष: § ।

हलों की संख्या मोटे तौर पर कृषिजीवियों की सामाजार्थिक स्थिति एवं प्रतिष्ठा से सम्बन्धित थी । दण्डी §550-650 ई0§ के दशकुमारचरित[2] की एक कथा में मिथिला एवं पुण्ड्रदेश के क्षेत्र के एक गृहपति जनपद महत्तर का उल्लेख मिलता है, जिसे "शतहलि" नाम दिया गया है । यह शब्द इस बात का सूचक है कि वह जनपद-महत्तर एक बड़ा भूमिपति था जिसके पास सौ अच्छे हल थे, जिनसे वह कृषि कराता रहा होगा । इसी प्रकार इस ग्रन्थ में[3] एक

---

1. पाणिनि §अष्टाध्यायी, 6, 2. 187§ का अनुसरण करते हुये शाकटायन की अमोघवृत्ति में भी "हलि" और "हल" का अर्थ क्रमशः महद्धल और सामान्य हल बताया गया है । इसी प्रकार "जित्या" शब्द भी बड़े हल के लिये दिया गया है ।

2. दशकुमारचरित, सम्पादक एम0आर0 काले, चतुर्थ संस्करण, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1966, पृ0 120 §मूलग्रन्थ§, 76 §नोट्स§ ।

3. वही, पृ0 120

पुष्ट ग्रामणी (ग्रामपति) के अनन्तर्तीर नाम से यह संकेत मिलता है कि उसके पास अगणित हल थे। ऐसे ग्रामणी लोगों की तुलना मुगल काल के उन ग्राम प्रमुखों या ग्राम के पञ्चों से की जा सकती है जिन्हें मुकद्दम कहते थे। ये मुकद्दम नकद या अनाज में वेतन देकर कर्मकरों द्वारा अपना कृषि-कार्य कराते थे। उनके कर्मकर खेत जोतते एवं बोते थे और फसल को सींचते एवं काटते थे।

निम्न स्तर के वे कृषक होते थे जिनके पास हल नहीं होता था। वे

---

1. इरफान हबीब, दि कैम्ब्रिज ईकोनॉमिक हिस्ट्री आफ इंडिया, जिल्द 1 में, पृ0 221; वही, पेपर्स ऑन इंडियन हिस्ट्री, सेंटर ऑफ ऐडवान्सड स्टडी इन हिस्ट्री (अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी) द्वारा इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस के 52वें सेशन (नई दिल्ली, 1992) में प्रस्तुत, पृ0 477-94.

भी माँग -जाँच कर अपना कृषि-कार्य कर लेते थे। राजशेखर की काव्य-मीमांसा में उद्धृत एक श्लोक से ऐसे दरिद्र किसानों की स्थिति का कुछ संकेत मिलता है। इसमें कहा गया है कि बलराम के पास हल है, शिव के पास एक बैल है, एवं विष्णु के पास एक सीमित (क्रमपरिमिता) भूमि है, और ऐसी स्थिति में दूसरे बैल के अभाव में इन दरिद्र कुटुम्बियों (दरिद्र-कुटुम्बकम्) की कृषि सम्भव नहीं हो सकी है। इससे यह संकेत मिलता है कि खेती के सभी साधनों- एक हल, दो बैल और भूमि-में से हल या बैल के न होने पर दरिद्र किसान एक दूसरे से माँग कर काम चला लेते रहे होंगे। इस परिस्थिति में हलसाझा की प्रथा भी प्रचलित रही होगी, जिसमें एक किसान के हल और दूसरे के बैल के माध्यम से दोनों की कृषि- क्रिया सम्पन्न हो जाती रही होगी। इस प्रथा के अवशेष आधुनिक काल में भी पाये जाते हैं।

---

1. काव्यमीमांसा, अनुवादक पं० केदारनाथ शर्मा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1954, पृष्ठ 227.

अर्थशास्त्र (2.24.17) में आने वाले "स्ववीर्योपजीविन्" शब्द का अर्थ भट्टस्वामिन् ने अपनी टीका में कायक्लेशमात्रोपजीविनः (केवल अपने शारीरिक श्रम से जीवनोपार्जन करने वाले) बताया है। इनके पास हल, बैल, खेत आदि नहीं होते थे और इनमें से कुछ को राजा— यदि उसके पास बीज, बैल आदि रहते थे और कर्मकर नहीं होते थे तो जिस भूमि पर वह कृषि नहीं करा पाता था उसमें से – कुछ भूमि कर्षण के लिये दे देता था[1]। इन्हें बीज, भक्त (इनके भोजन) आदि पर होने वाले व्यय को काटकर उपज के शुद्ध लाभ में से 1/4 या 1/5 मात्र पारिश्रमिक के रूप में दिया जाता था। यह संदेहास्पद है कि अर्थशास्त्र में भट्ट स्वामिन् द्वारा निर्दिष्ट प्रथा का उल्लेख[2] है। पर भट्टस्वामिन् की टीका के साक्ष्य से यह स्पष्ट है कि पूर्व मध्यकाल में यह प्रथा ज्ञात थी और कुछ हद तक प्रचलित भी रही होगी। बड़े भूमिपति भी इस प्रकार कर्षण के लिये भूमि कर्मकरों को देते रहे होंगे।

---

1. यदा तु बीजबलीवर्दादिकमस्ति न कर्मकरः (तदा) स्ववीर्योपजीविनः बीजाद्यभावेन कायक्लेशमात्रोपजीविनश्चतुर्थेन पंचमेन वा बीजभक्तादिव्यय-विशुद्धेन वपेयुः। जे०बी०ओ०आर०एस०, जिल्द 12, भाग 2, पृ० 137.

2. द्रष्टव्य शिवेश भट्टाचार्य "लैण्ड सिस्टम एज रेफलेक्टेड इन कौटिल्यस् अर्थशास्त्र", दि इण्डियन ईकोनॉमिक एण्ड सोशल हिस्ट्री रिव्यू, जिल्द 16, नं० 1, पृ० 86. इनके मतानुसार स्ववीर्योपजीवी उपज का 3/4 या 4/5 भाग स्वयं लेते थे और 1/4 या 1/5 भाग राजा को देते थे।

कृषि-पराशर (श्लोक 97, 98) में हलों की संख्या के आधार पर कृषकों की आर्थिक स्थिति का आकलन मिलता है । इसके अनुसार, दस हल से सदा लक्ष्मी, पाँच से सदा धन, तीन से सदा पोषण, दो से सदा आत्मपोषण-मात्र, एवं एक से सदा ऋण की स्थितियाँ रहती हैं । इसे हल की संख्या से भूमि एवं उत्पादन के परिमाण के अनुमान के आधार पर किया गया मोटा आकलन ही माना जा सकता है ।

कृषि में किये जाने वाले श्रम के आधार पर कृषिजीवियों का वर्गीकरण

नवीं शताब्दी में मेधातिथि[1] ने खेती में किये जाने वाले श्रम के आधार पर कृषिजीवियों को निम्नलिखित दो भागों में विभक्त किया था :-

1- स्वयं कृतया कृष्या जीवति — वे कृषिजीवी जो अपने व अपने परिवार के लोगों के श्रम से स्वयं कृषि करते थे ।

2- अस्वयंकृतयाऽपि (कृष्या जीवति) — वे लोग जो स्वयं व अपने परिवार के लोगों की सहायता से कृषि नहीं करते थे, अर्थात् जो कर्मकरों आदि से कृषि कराते थे ।

सामान्यतः जिनके पास भूमि अधिक रहती रही होगी वे स्वयं कृषि न करके दूसरों से कराते रहे होंगे, तथा कम भूमि वाले लोग अपनी कृषि स्वयं तथा अपने परिवार के लोगों की सहायता से करते रहे होंगे[2] ।

---

1. मनु 3.155 पर मेधातिथि का भाष्य ।

2. श्रम के उपयोग के अभिसूचक के आधार पर आधुनिक काल मे भारतीय कृषकों के वर्गीकरण के लिये देखिये उत्सा पटनाइक, दि जर्नल आफ पेजेंन्ट स्टडीस, जिल्द 15, नं0 3 (1988), पृ0 322.

पर इस प्रकार का वर्गीकरण एक मोटा वर्गीकरण ही कहा जा सकता है । वास्तव में किसानों का अनुक्रम में वर्गीकरण संश्लिष्ट प्रकार का था । सबसे उच्च वर्ग के वे कृषक थे जिनके पास भूमि अधिक होती था और जो कर्मकरों से कृषि कराते थे और / या आर्धिकों को कृषि हेतु भूमि देते हैं । दण्डिन् के दशकुमारचरित में उल्लिखित 100 हल वाले जनपद- महत्तर एवं अगणित हल वाले ग्रामणी (ग्रामपति या ग्रामस्वामी) बड़े भूमिपति कृषक थे, जो इसी प्रकार कृषि-कार्य कराते रहे होंगे । ग्रामों का दान पाने वाले लोग भी कभी-कभी बड़े भूमिपति के रूप में कृषि कराते रहे होंगे । बहुत से दानपत्रों में करों के साथ विष्टि (बेगार) लेने के अधिकार के अन्तरण के भी उल्लेख मिलते हैं । पर बड़े भूमिपतियों द्वारा अपने कृषि-कार्य में बेगार के उपयोग के अधिक साक्ष्य नहीं मिलते हैं ।

उच्च वर्ग के कृषकों के बाद अनुक्रम में मध्यम वर्ग के कृषक रहे होंगे । इनके पास भूमि बहुत अधिक नरही होगी, और ये लोग विभिन्न हद तक स्वयं तथा अपने परिवार के लोगों की सहायता से कृषि करते हुये उसमें कर्मकरों को भी नियोजित करते रहे होंगे । पर उच्च वर्ण के लोगों — विशेष रूप से ब्राह्मणों - के लिये वर्ण-व्यवस्था के आदर्श के अनुसार कृषि-कर्म गर्हित माना जाता था । अतः इस श्रेणी के मध्यम वर्ग के कृषक भी कर्मकरों से कृषि कराते रहे होंगे, अथवा आर्धिकों को अपनी भूमि कृषि हेतु देते रहे होंगे । मध्यमवर्ग के निचले स्तर से सम्बन्धित निम्न जातियों के वे कृषक रहे होंगे, जो भूमि अपर्याप्त होने के कारण जीविकोपार्जन हेतु कुछ हद तक अपने से उच्च स्तर के कृषकों के लिये कर्मकर या आर्धिक के रूप में कृषि-कार्य करते रहे होंगे ।

---

1. द्रष्टव्य आर ।

इसके बाद निम्नवर्ग के कृषक रहे होंगे जिनके पास काश्तकार के रूप में बहुत कम भूमि रही होगी और ये दूसरों के आर्धिक या कर्मकर के रूप में अधिक कार्य करते रहे होंगे। कुछ लोग केवल दूसरों के लिये ही कार्य करने वाले भूमिहीन कृषक रहे होंगे। इनके लिये भट्टस्वामिन् की अर्थशास्त्र की टीका में "कायक्लेशमात्रोपजीविन:" बताया गया है।[1] जैसा कि पहले ही देखा जा चुका है, इनमें से कुछ को कृषि-कर्मकरों के रूप में कृषि-भूमि से सम्बन्धित कर दिया जाता था।[2]

धान्योत्पत्ति एवं धान्य-संग्रह के परिमाण के आधार पर वर्गीकरण

कृषकों के वर्गीकरण का एक अन्य आधार धान्योत्पत्ति एवं धान्य-संग्रह का परिमाण भी था। पूर्व मध्यकाल के एक ग्रन्थ ब्रह्मपुराण[3] में इस दृष्टि से 3 वर्गों की अवधारणा की गयी है —

§1§ गर्तधान्यका :- वे लोग जो अपनी कृषि से उत्पन्न अनाज को जमीन में गर्त §तहखाना§ बनाकर रखते थे। इनकी धान्योत्पत्ति काफी अधिक होती रही होगी।

§2§ कुसूलधानिन :- वे जो अपनी खेती से उत्पन्न अनाज को खत्तियों में रखते थे। इनके पास पहले वर्ग की अपेक्षा कम धान्य रहता रहा होगा।

---

1. द्रष्टव्य ऊपर।

2. द्रष्टव्य ऊपर।

3. ब्रह्मपुराण, सम्पादक तारणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग §1976§, पृ0 58.

इस साक्ष्य की ओर ध्यान आकृष्ट करने के लिये मैं डॉ0 बी0एन0एस0 यादव

﴾3﴿ घटक्षिप्तधना :- वे लोग जो अपना धान्य घड़ों में रखते थे। ये सामान्यतः दरिद्र कृषक एवं कर्मकर रहे होंगे।

स्वतन्त्र एवं अस्वतन्त्र का द्विविभाजन

आपस्तम्ब धर्मसूत्र पर हरदत्त ﴾12वीं शताब्दी﴿ की टीका[1] में कृषकों का द्विविभाजन उनके स्वतन्त्र या अस्वतन्त्र होने के आधार पर मिलता है। इस प्रकार कुछ कृषक "स्वतन्त्र क्षेत्रवान्" थे। इन्हें कृषि-क्षेत्र पर स्वामित्व के कुछ अधिकार रहे होंगे। ये अपने कीनाशों ﴾हलवाहकों﴿ को पूर्व-कृष्ट क्षेत्र का कृषि-कार्य छोड़ने पर ताड़ित कर सकते थे। दूसरे प्रकार के कृषक वे थे जो "स्वतन्त्र क्षेत्रवान्" नहीं थे। ये किसी से भूमि प्राप्त कर काश्तकार के रूप में स्वयं या कभी-कभी हलवाहकों के द्वारा कृषि करते रहे होंगे। आर्धिक भी अस्वतन्त्र क्षेत्रवान् के अन्तर्गत ही माने जा सकते हैं, क्योंकि इन्हें केवल खेत पर कृषि का ही अधिकार क्षेत्रस्वामी द्वारा दिया जाता था। अस्वतन्त्र क्षेत्रवान् यदि कीनाश ﴾हलवाहक﴿ रखता था तो वह उसके काम छोड़ने पर उसको दण्डताडन नहीं दे सकता था : केवल राजा ही उसे दण्डित कर सकता था।

ब्राह्मण तथा अन्य वर्ग के कृषक

प्राचीन काल में ब्राह्मणों के लिये मनु आदि ने हिंसाप्राय होने के कारण कृषि-कार्य अत्यन्त गर्हित माना था[2]। प्राचीन परम्परा में अध्यापन-कार्य, पुरोहित

1- आपस्तम्ब धर्मसूत्र, वाराणसी ﴾1969﴿, 2.11.2 पर टीका।

2- मेधातिथि ने ﴾मनु० 10.85 पर﴿ मनु के दृष्टिकोण को स्पष्ट करते हुए कहा है --

सर्वासां वैश्यवृत्तीनां गर्हिततरा कृषिः।

के रूप में यजमानों के लिये यज्ञों के अनुष्ठान का कार्य, एवं योग्य व्यक्तियों से प्रतिग्रह (दान) ग्रहण करना ब्राह्मणों की जीविका के साधन बताये गये थे[1]। पर पराशरस्मृति (लगभग 600 से 900 ई० के बीच)[2] में इस आदर्श में परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। पराशर के अनुसार ब्राह्मण को अपने षट्कर्मों के साथ-साथ कृषि भी करना चाहिए[3]। माधवाचार्य[4] ने इस पर भाष्य करते हुए यह कहा है कि ब्राह्मण को अपने शूद्र शुश्रूषकों से कृषि कराना चाहिए। कृषि-कार्य ब्राह्मणों के लिए कुछ विशेष परिस्थितियों में मनु द्वारा आपद्धर्म के रूप में आपत्काल तक के लिये उचित माना गया था। पर पराशर ने ब्राह्मणों के लिये कृषि- कार्य को आपद्धर्म न मानकर उसे उनके मुख्य धर्म के रूप में विहित किया है[5]।

1- ब्राह्मणों के षट्कर्म के लिये द्रष्टव्य मनु० 10.75. (इसके अन्तर्गत ऊपर के तीनों कर्मों के अतिरिक्त अध्ययन, स्वयं यज्ञ करना, एवं दान देना था।

2- पी०वी० काणे, हिस्ट्री आफ धर्मशास्त्र, जिल्द 5, भाग 2, द्वितीय संस्करण (पूना, 1977), क्रोनोलॉजिकल टेबुल, पृ० 13.

3- षट्कर्मसहितो विप्रः कृषिकर्म च कारयेत् — पराशर स्मृति, 2.2

4- पराशरस्मृति 2.2 पर माधवाचार्य।

5- आपद्धर्मः कलौ मुख्यधर्मः।
पराशर स्मृति. 2.2 पर माधवाचार्य।

पराशर ने यह परिवर्तन अंशतः इस कारण से किया कि ब्राह्मणों के मनु द्वारा विहित जीविका के साधन सभी को उपलब्ध नहीं हो सकते थे । किन्तु एक कारण यह भी था कि ब्राह्मण भूमिपतियों के एक समुदाय का विकास पूर्व मध्यकाल में होने लगा था और उनके हित-संवर्धन के लिये इस प्रकार का परिवर्तन आवश्यक हो गया था । पूर्व मध्यकाल में ब्राह्मणों को दिये गये अनेक भूमि या ग्राम के दान — जो अभिलेखों से ज्ञात होते हैं — ब्राह्मण भूमिपतियों के समुदाय के विस्तार की ओर संकेत करते हैं । पर भूमि का दान पाने वाले सभी ब्राह्मण बड़े भूमिपति नहीं हो सकते थे[1] । कर्मकरों द्वारा कृषि कराना ब्राह्मणों के लिये सर्वोत्तम व्यवस्था के रूप में प्रस्तुत किया गया है । इस वर्ग के बड़े भूमिपति और मध्यमवर्ग के कृषक इस व्यवस्था का पालन करते रहे होंगे । पर ऐसे भी बहुत से ब्राह्मण थे जो साधन-सम्पन्न न होने के कारण कर्मकर नहीं रख सकते थे । उनके लिये स्वयं कृषि-कार्य करने का उपदेश दिया गया था[2]। इस प्रकार के लोग निम्न श्रेणी के ही कृषक हो सकते थे ।

1— गोविन्दचन्द्र पाण्डे, <u>फाउण्डेशन्स ऑफ इंडियन कल्चर</u>, जिल्द 2, नई दिल्ली, 1984, पृ0 232.
बी0एन0एस0 यादव एस0सी0एन0आई0, पृ0 10.

2— स्वयं कृष्टे तथा क्षेत्रे .... ।
<u>पराशर स्मृति</u> 2.6.

पराशर (2.18) ने कृषि को क्षत्रियों के लिए भी उनके सामान्यतः विहित कर्म के रूप में माना है[1]। इस वर्ण के भी भूमिपति और मध्यम वर्ग के कृषक कर्मकरों आदि से कृषि कराते रहे होंगे, और सामान्य लोग पूर्णतः या अंशतः स्वयं कर्षण करते रहे होंगे। वैश्यों के लिये तो कृषिकर्म, पशुपालन एवं वाणिज्य पहले से ही विहित कर्म थे। पराशर ने भी इसका अनुमोदन किया है[2]। पूर्व मध्यकाल मे वैश्यों की स्थिति में गिरावट के कुछ प्रमाण मिलते हैं[3]। इससे यह लगता है कि इस वर्ण के सामान्य कृषक काफी हद तक आश्रित कृषक हो गये होंगे।

शूद्रों के लिये उनके सामान्य कर्तव्य के रूप में कृषि-कर्म का स्पष्ट विधान सबसे पहले पराशरस्मृति में ही मिलता है। आर० एस० शर्मा के अनुसार शूद्रों का कृषक बनना पूर्व मध्यकाल के सामाजिक विकास की एक महत्त्वपूर्ण प्रवृत्ति थी। पर द्विजशुश्रूषा या द्विज-सेवा के साथ ही किये गये कृषि-कर्म को धर्म के दृष्टिकोण से प्रशस्त माना गया है। इससे यह ज्ञात होता है कि शूद्र अधिकतर स्वतन्त्र कृषक न होकर कृषि-कर्मकर, आर्धिक आदि होते थे। 11वीं शताब्दी में अल्बेरूनी[4] ने भी यह पाया कि शूद्र का कृषि-कार्य करना उचित नहीं माना जाता था।

---

1. वही, 2, 19.
2. वही, 1, 70.
3. बी०एन०एस० यादव, एस०सी०एन०आई०, पृ० 11 और आगे।
4. अल्बेरूनीज इंडिया, अनुवादक सखाउ, जिल्द 2, पृ० 131.

यह कथन उनके स्वतन्त्र कृषक के रूप में कृषि-कार्य के सम्बन्ध में ही प्रतीत होता है।[1]

बृहत्पराशर-संहिता एवं काश्यपीय कृषिसूक्ति में भी सभी वर्णों के लोगों के लिये कृषि-कार्य विहित बताया गया है।

कृषि-कर्मकर

वराहमिहिर के होराशास्त्र पर रुद्र की टीका से ज्ञात होता है कि कृषि-कार्य में मुख्य रूप से 2 प्रकार के कर्मकर लगाये जाते थे — एक तो सामान्य कर्मकर जो वेतन पाते थे (ये आकस्मिक कर्मकर भी रहे होंगे), और दूसरे वे कर्मकर जो वृत्ति पाते थे[2]। वेतन अनाज के रूप में अधिक प्रचलित रहा होगा। वृत्ति पाने वाले कर्मकरों के पोषण के लिये कुछ कृषि योग्य भूमि एवं / अथवा खलिहान में अनाज तैयार हो जाने पर उसके कुछ अंश दिये जाते रहे होंगे[3]। कृषि से सम्बन्धित कर्मकरों में हलवाहक, हालिक या कीनाश के उल्लेख इस काल के स्रोतों में प्रायः मिलते हैं। इस काल के कुछ कोशग्रन्थों में कर्मकर शब्द का ही एक अर्थ कीनाश या हलवाहक मिलता है[4]। इससे यह स्पष्ट है कि हलवाहक इस काल में

---

1. स्मृति-शास्त्र-सङ्ग्रहः, सम्पादक जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1876.
2. ....कर्मकरवेतनकर्षणवापनसेचनादिकर्मकरवृत्ति ....वक्तव्यम्-वराहमिहिर के होराशास्त्र (18.9) पर रुद्र की टीका।
3. इस प्रथा को हम कालान्तर की विकसित जजमानी व्यवस्था में भी पाते हैं।
4. उदाहरणार्थ, कर्मकरस्तु कीनाशे भृत्ये वेतनजीविनि। महेश्वर सूरि का विश्वप्रकाश कोश (शक सं० 1033), चौखम्बा संस्कृत सिरीज, नं० 37, द्वितीय संस्करण, वाराणसी, 1983, पृ० 143, श्लोक 227.

सबसे प्रमुख कर्मकर था । यह कर्षण के अतिरिक्त बोने, सींचने, लवन आदि का भी कार्य करता रहा होगा । लेखपद्धति (पृ0 67) एक पत्र के प्रारम्भ से ज्ञात होता है कि बड़े भूमिपतियों के स्थायी कृषिकर होते थे । इसके अतिरिक्त दासों को भी कभी-कभी कृषि-कार्य में नियोजित किया जाता था[1] । पर इस काल से कृषि में दास-श्रम का महत्त्व पहले की अपेक्षा काफी कम हो गया था[2] ।

धर्मशास्त्र ग्रन्थों में वेतन के अन्तर्गत ही वृत्ति का समावेश कर लिया गया है । लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) के कृत्य कल्पतरु के व्यवहार-काण्ड (पृ0 401, 402) में बृहस्पतिस्मृति (16.1,2) के श्लोक उद्धृत किये गये हैं । इनके अनुसार सीरवाहक, या हलवाहक दो प्रकार के होते थे -- (1) भक्ताच्छादभृत, और (1) उपधाभृत । प्रथम प्रकार के सीरवाहकों के लिये भोजन और कपड़े की व्यवस्था भी की जाती थी, और उनके द्वारा कृषि से उत्पन्न किये गये धान्य में से उन्हें 1/5 भाग भृति या वेतन के रूप में दिया जाता था । भोजन द्वारा भृत होने का अर्थ यह भी हो सकता है कि उनके तथा उनके परिवार के पोषण के लिये कुछ कृषि-भूमि उपयोग के लिए वृत्ति के रूप में दे दी जाती थी । दूसरे प्रकार के वे सीरवाहक होते थे जो अपने उत्पन्न किये गये अनाज में से 1/3 भाग पाते थे । इनके लिये भोजन एवं कपड़े की व्यवस्था नहीं की जाती थी । नारद (9.3) के अनुसार जिनकी भृति अनिश्चित होती थी उन्हें उपज का दसवाँ भाग दिया जाता था ।

---

1. उदाहरणार्थ लेखपद्धति, पृ0 44, 45.
2. बी0एन0एस0यादव, आई0 एच0 आर0, जिल्द 5, नं0 1-2.

कृषि-कर्मकर प्रायः शूद्र वर्ण के ही लोग होते थे।[1] धर्मशास्त्र ग्रन्थों में शूद्र आर्धिक एवं भूमि-कर्षक का विशेष उल्लेख मिलता है। पराशरस्मृति के भाष्यकार माधवाचार्य ने ब्राह्मणों के लिये शूद्र शुश्रूषकों द्वारा खेती कराने की व्यवस्था का उल्लेख किया गया है।[2] काश्यपीय कृषिसूक्ति में तो यह कहा गया है कि प्रायः गाँवों में सर्वत्र शूद्र लोग भृत्य कहे जाते हैं, और केवल शूद्रों को ही कृषि-कार्य में भृत्य के रूप में नियोजित करना चाहिए — अन्य जातियों के लोगों को नहीं।[3] इस प्रकार इस ग्रन्थ में शूद्रों को ही कृषि-कार्य में नियोजित करने की परम्परा का उल्लेख मिलता है, जो पहले से ही चली आ रही थी। पर इस ग्रन्थ में ऐसे शूद्र कृषकों के भी उल्लेख मिलते हैं जो भृत्य या कर्मकर न रहे होंगे।[4] पूर्व मध्यकाल में ब्राह्मणों को/ भूमि-दान एवं ग्राम-दान की परम्परा का काफी विस्तार हुआ। जिन ब्राह्मणों जनजातियों के क्षेत्रों में भूमि मिलती थी, वे उन लोगों का उपयोग कृषि - कर्मकर के रूप में करते रहे होंगे। काश्यपीय-कृषिसूक्ति (श्लोक 187-88) में भी व्याध आदि एवं आखेट करने वाले लोगों, जो जंगलों में रहते थे, को कृषिजीवियों में सम्मिलित किया गया है। गुप्त काल एवं गुप्तोत्तर काल में लोहे के अपेक्षाकृत व्यापक प्रयोग के कारण कृषि का विस्तार हुआ, और शूद्र दास एवं कर्मकर तथा जनजातियों

1- मनु 4, 256 पर मेधातिथि।

2- पराशर स्मृति, 2.2 पर माधवाचार्य।

3- प्रायो ग्रामेषु सर्वत्र भृत्याः शूद्राः प्रकीर्तिताः। ते एव कृषिकार्येषु योक्तव्या नान्यजातयः॥ वही, श्लोक 211-12,

4- उदाहरणार्थ, वही, श्लोक 208.

के लोग कृषक के रूप में परिणत होने लगे।[1] स्कन्द-पुराण में ब्राह्मणों को ग्रामों के साथ अटवीज (अटवीज) शूद्रों के दान की एक कथा मिलती है।[2] ये अटवीज (वन में होने वाले) शूद्र जन-जातियों के लोग रहे होंगे। जनजातियों के लोगों को जातिप्रधान सामाजिक ढाँचे में भी स्थान दिया गया है। विवेकानन्द झा[3] ने यह सिद्ध कर दिया है कि लगभग 600 ई० से 1200 ई० के काल में अस्पृश्य जातियों की संख्या में काफी विस्तार हुआ, जिनमें से बहुत सी जनजातियों के लोगों को हिन्दू समाज में सम्मिलित करने के फलस्वरूप बनी थीं। इरफान हबीब[4] के अनुसार ये अस्पृश्य जातियों के लोग निम्न कार्यों को करते थे और कृषि-कार्य के समय उन्हें कर्मकर के रूप में नियोजित किया जाता था। उनके मत से लोग कृषक नहीं बन सकते थे। पर वृत्ति के रूप में उन्हें भी कुछ कृषि-भूमि मिल सकती थी।

कृषक अनुक्रम में उर्ध्वमुखी एवं अधोमुखी गतिशीलता

कश्मीर के इतिहास से ज्ञात होता है कि कुछ बड़े और समृद्ध कृषक कहीं-कहीं अपनी शक्ति बढ़ाकर सामन्ती सरदारों के तुल्य हो जाते थे। वहाँ के नरेशों की नीति यह थी कि कृषक आवश्यकता से अधिक अनाज एवं बैल न रख सकें, क्योंकि वे अधिक सम्पन्न होने पर राजा की शक्ति को चुनौती

---

1. आर० एस० शर्मा, शूद्राज इन ऐंशेंट इंडिया, पृ० 234-35.
2. बी०एन०एस०यादव द्वारा उद्धृत, एस०सी०एन०आई०, पृ० 164 और आगे, स्कन्दपुराण (ब्रह्मखण्ड) 3.2.35.44 और आगे।
3. विवेकानन्द झा, "स्टेजेज इन दि हिस्ट्री आफ अनटचेबुल्स", आई०एच०आर०, जिल्द 2, नं० 1, पृ० 28-31.
4. प्रजीडेंशल ऐड्रेस, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, 43वां सेशन (कुरुक्षेत्र, 1982), पृ० 22.

देने वाले डामर बन जाते थे[1]। डी० डी० कोसम्बी के विचार से ये डामर सामन्ती सरदार होते थे[2]।

पर जो मध्य वर्ग या निम्न वर्ग के कृषक थे उनकी स्थिति गिरने लगी। वैश्यों की स्थिति में ह्रास को इसी प्रवृत्ति से सम्बद्ध माना जा सकता है। स्कन्द पुराण (3.2.39.291-92) में मिलता है कि उनमें से कुछ लोग राजपुत्रों (राजपूत सरदारों) के आश्रित हो जायेंगे। अल्बेरूनी[3] ने भी वैश्यों और शूद्रों में बहुत अन्तर नहीं देखा। शूद्रों की स्थिति कुछ ऊपर उठी और वे कृषि से सम्बन्धित होने लगे, पर उनमें से भी अधिकांश कृषिकर्मकर और आश्रित कृषक रहे होंगे[4]। मध्य और निम्न वर्ग के कृषकों की स्थिति में गिरावट का मुख्य कारण अपेक्षाकृत बन्द कृषिप्रधान एवं सामान्ती व्यवस्था के अन्तर्गत भूमि में एक स्तर का प्रवर स्वत्व प्राप्त करने वाले या उसका दावा करने वाले मध्यस्थों— भूमि-दान या ग्राम-दान प्राप्तकर्ताओं, ग्राम-स्वामियों, सरदारों, छोटे-छोटे राजाओं— के वर्गों का उदय था। इसके कारण, जैसा कि पहले भी देखा जा चुका है (अध्याय 1), भूमि में कृषकों के स्वत्व प्रक्षीण हुए होंगे, और वे बड़ी संख्या में आश्रित कृषक हो गये होंगे। इस स्थिति की ओर संकेत

---

1. राजतरंगिणी, 4.347-48.
2. डी० डी० कोसम्बी, डी०एन० झा द्वारा सम्पादित फ्यूडल सोशल फार्मेशन इन अर्ली इंडिया (चाणक्य पब्लीकेशन, दिल्ली, 1987) में, पृ० 138.
3. अल्बेरूनीज इंडिया, 2, पृ० 136; इस सन्दर्भ में उल्लिखित वैश्य सामान्य कृषक रहे होंगे।
4. लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) ने कृत्यकल्पतरु के गृहस्थकाण्ड (पृ० 380) में शूद्रों

हम भागवत पुराण, विविधतीर्थकल्प आदि में पाते हैं। भागवत पुराण (12.3.28,33) के अनुसार पहले के काल में कुटुम्बी (कृषक) समृद्ध होते थे, पर कलियुग में वे भिक्षुओं की भाँति दरिद्र हो जायेंगे। विविधतीर्थकल्प (पृ० 39) में भी मिलता है कि राजाओं के उत्पीड़न एवं शोषण के कारण कुटुम्बी (कुटुम्बिणों) दास के समान (दासप्पाया) हो जायेंगे।

राजस्थान,[1] गुजरात,[2] और उड़ीसा[3] या उसके आस-पास के क्षेत्र के 11वीं - 12वीं शताब्दी के कुछ अभिलेखों में भी कुटुम्बिकों के, अकेले या भूमि के साथ, दान-के उल्लेख मिलते हैं। ये भी निम्न स्तर के कृषकों की प्रतिबद्धता एवं उनकी स्थिति में गिरावट के सूचक हैं। पर 11वीं एवं 12वीं शताब्दियों में अपेक्षाकृत अधिक कृषि-उत्पादन, व्यापार के कुछ विकास, एवं सिक्कों के कुछ अधिक प्रचलन के कारण, विशेष रूप से नगरों एवं बड़े मार्गों के आस-पास के ग्रामों में, बन्द आर्थिक व्यवस्था अपेक्षाकृत ढीली हुई होगी, और कृषकों की स्थिति कुछ सुधरी होगी: उनकी प्रतिबद्धता भी कुछ कम होने लगी होगी।[4]

कृषकों से लिये जाने वाले देय

पूर्व मध्यकाल के बहुत से अभिलेखों में हम भाग (कृष्ट क्षेत्र की उपज का भाग) भोग (समय-समय पर देय फल, फूल आदि) एवं अन्य करों के उल्लेख पाते हैं।

---

1. द्रष्टव्य बी०एन०एस० यादव, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस (41वां सेशन- 1980) के ऐंशेंट इंडिया सेक्शन का प्रेसीडेंशल ऐड्रेस, पृ० 39.
2. वही।
3. ई०आई०, जिल्द 3, पृ० 312-314, कीलहार्न ने इस अभिलेख के अनुवाद में "कुटुम्बिकानाम्" का अर्थ गृहदास किया है (वही पृ० 314); पर यह ठीक नहीं लगता।
4. आर०एस० शर्मा, इण्डियन फ्यूडलिज्म, (द्वितीय संस्करण) पृ० 198 और आगे;

कई विद्वानों[1] द्वारा इनका विस्तृत विवेचन किया जा चुका है । अभिलेखों से यह स्पष्ट होता है कि इस काल में करों की संख्या काफी बढ़ गयी । इसके अतिरिक्त हम कर के ढांचे में भी विविधता[2], विस्तार एवं कुछ परिवर्तन तथा करों में वृद्धि के साक्ष्य पाते हैं । प्राचीन काल में षड्भाग राजभाग के रूप में प्रचलित था । यह उपज का छठा भाग था । पर 12वीं शताब्दी में भट्टस्वामिन्[3] ने यह कहा कि षड्भाग राजभाग के रूप में देश-प्रसिद्ध तृतीय, चतुर्थादि भाग का उपलक्षण है । इसी सन्दर्भ में भट्टस्वामिन् ने यह भी कहा है कि कुछ लोग षड्भाग को अधिक दिया जाने वाला भाग (अधिकदेयभागम्)[4] मानते हैं जो उनके अनुसार समीचीन नहीं था । इससे यह स्पष्ट है कि इस सम्बन्ध में दो प्रथाएँ हो गयी थी । एक के अनुसार षड्भाग कृष्ट भूमि पर मुख्य कर था, जिसके नाम पर राजा की इच्छानुसार अथवा कुछ हद तक भूमि के प्रकार के आधार पर तृतीय चतुर्थादि भाग लिये जाने लगे, और दूसरी के अनुसार यह

---

1. उदाहरणार्थ, यू०एन० घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ० 290 और आगे ; लल्लनजी गोपाल, दि ईकोनॉमिक लाइफ आफ नार्दर्न इण्डिया, अध्याय 2, बी० एन० एस० यादव, एस०सी०एन०आई०, पृ० 288 और आगे ।
2. नवीं शताब्दी में मनु के भाष्यकार मेधातिथि ने यह कहा कि राजग्राह्य करों के विभिन्न देशों में विभिन्न नाम एवं रूप थे— बलिप्रभृतीनि राजग्राह्यकरनामानि देशभेदे सुप्रमाणवत्प्रसिद्धानि । मनु० 8, 307 पर, मेधातिथि । बलि का अर्थ उन्होंने धान्य आदि का छठा भाग बताया है ; वही, उपरोक्त उद्धृत स्थल ।
3. जे०बी०ओ० आर०एस०, जिल्द 11, भाग 3, पृ० 83,
4. वही, पृ० 83

अतिरिक्त देय था । यहाँ यह उल्लेखनीय है कि अल्बेरूनी[1] ने भी षड्भाग को, भूमि एवं चरागाह से सम्बद्ध कर के अतिरिक्त, एक सुरक्षा-कर के रूप में बताया है, जिसे लोगों को देना पड़ता था । अल्बेरूनी के साक्ष्य से यह स्पष्ट होता है कि भूमि-कर[2] या चरागाह-कर के अतिरिक्त सुरक्षाकर भी पूर्वमध्यकाल में कुछ क्षेत्रों में प्रचलित हो गया था । इससे कृषकों पर कर का बोझ बढ़ा होगा ।

स्थानीय अधिकारियों के निमित्त देयों के भी उल्लेख हम पूर्व मध्यकाल के स्रोतों में पाते हैं । कलचुरियों[3] के कुछ अभिलेखों में पट्टकिलादाय (पट्टकिल को देय कर), दुस्साध्यादाय या दुष्टसाध्यादाय (दुष्टसाध्य नामक अधिकारी, जो फौजदारी से सम्बन्धित प्रशासन का प्रभारी रहा होगा,

---

1. अल्बेरूनीज इंडिया, अनुवादक सखाउ, अध्याय 67, पृष्ठ 149. अल्बेरूनी के अनुसार ब्राह्मण इन करों से मुक्त थे । पर पराशरस्मृति (2.17) में कृषि करने वाले ब्राह्मणों के लिये भी राजा को षड्भाग देने का विधान किया गया है ।
2. लेखपद्धति में भूमिकर के लिये दानीभाग (वही, पृ० 6, 17, 18 इत्यादि) मिलता है । गुजरात के चौलुक्य अभिलेखों में भी यह शब्द मिलता है । (घोषाल, हिन्दू रेवेन्यू सिस्टम, पृ० 256) । कर शब्द के विविध अर्थ बताये गये हैं । कुछ स्रोतों में यह भूमिकर भी माना गया है (लल्लनजी गोपाल, दि ईकोनॉमिक लाईफ आफ नार्दर्न इण्डिया, पृ० 37-38.
3. लल्लनजी गोपाल, वही , पृ० 63.

देय कर॥, आदि के उल्लेख मिलते हैं । चाहमानों[1] के अभिलेखों में भी
ार, तलहथ ॥शल्यहस्त॥ एवं बलाधिप नामक अधिकारियों हेतु तलाराभाव्य,
ध्याभाव्य, एवं बलाधिपाभाव्य के उल्लेख मिलते हैं । इनका शुल्क-शाला में
ित शुल्क में भाग होता था । चन्देल अभिलेखों से ज्ञात होता है कि राजपुरुष,
वी के अधिकारी ॥आटविक॥, एवं चाट ग्रामों से कुछ देय के अधिकारी होते थे[2] ।

इसके अतिरिक्त, जैसा कि क्षेमेन्द्र ॥11वीं शताब्दी की नर्ममाला[3] से
त होता है, कि नियोगी ॥ग्राम का स्थानीय राजस्व अधिकारी॥ ग्राम के
वासियों को आतंकित कर उनसे अनधिकृत रूप से भी अपने लिये बहुत सा सामान
र धन ले लेता था । इससे भी लोगों का उत्पीड़न होता था । अधिकारियों
ारा कृषकों से ॥कार्षिकेभ्य:॥ अनाधिकृत रूप से धन-ग्रहण करने का उल्लेख चण्डेश्वर
विवाद-रत्नाकर ॥पृ0 61॥ में भी मिलता है । चण्डेश्वर ने ऐसे अधिकारियों
हटा देने की सलाह दी है । चाटों, लेखकों एवं गणकों से प्रजा की रक्षा की
वश्यकता पर प्राचीनकाल में याज्ञवल्क्य-स्मृति में भी बल दिया गया था[4] ।

---

1. दशरथ शर्मा, अर्ली चौहान डिनैस्टीज, पृ0 207-11.
2. लल्लनजी गोपाल, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ0 62.
3. देशोपदेश-नर्ममाला, नियोगी पर दिये गये श्लोक, बी0 एन0 एस0 यादव, एस0 सी0 एन0 आई0, पृ0 238.
4. याज्ञवल्क्य-स्मृति, 1.336 एवं उस पर मिताक्षरा टीका ।

मानसार[1] के अनुसार चक्रवर्ती नरेश, महाराज या अधिराज, नरेन्द्र, पार्ष्णिक और पट्टधर क्रमशः उपज का $\frac{1}{10}$, $\frac{1}{6}$, $\frac{1}{5}$, $\frac{1}{4}$, एवं $\frac{1}{3}$ भाग राजस्व के रूप ग्रहण करते हैं । इनके नीचे क्रमशः गण्डलेश, पट्टभाक्, प्राहारक एवं अस्त्रग्राह बताये गये हैं, जो सन्दर्भ के अनुसार, उपज का क्रमशः और अधिक भाग ग्रहण करते रहे होंगे । इस प्रकार मानसार में क्षुद्रभूपालों (क्षुद्राश्च भूपालाः[2]) का उल्लेख है जो सबसे अधिक कर लेते रहे होंगे, क्योंकि सामन्ती व्यवस्था में उन्हें अपने स्वामी नरेश को कुछ कर के रूप में देना होता रहा होगा, और उस नरेश को अपने स्वामी नरेश को कर देना पड़ता रहा होगा । लेख पद्धति (पृ0 19, पंक्ति 4) के एक मानक दस्तावेज में एक राणक द्वारा उपज का $\frac{2}{3}$ भाग लेने का भी उल्लेख मिलता है । इस तरह नीचे से लेकर ऊपर तक एक सामन्ती शृंखला रही होगी, जिसकी कड़ियाँ कहीं कम रही होंगी और कहीं अधिक ।

ऊपर वर्णित परिस्थितियों में सामान्य कृषकों पर करों एवं देयों का बोझ अधिक हो गया होगा । करभार से कृषकों के उत्पीड़न के उल्लेख बुद्धघोस की समन्तपासादिका[3], (पाँचवी शताब्दी), बृहन्नारदीय पुराण (38, 87), आदि में मिलते हैं । अपराजितपृच्छा[4] में राजग्राह्य करों के बोझ से सारी प्रजा

---

1. मानसार, सम्पादक पी0 के0 आचार्य, पृ0 284, श्लोक 29 और आगे, 36.
2. वही, पृ0 285, श्लोक 38. बी0 एन0 एस0 यादव, एस0सी0 एन0 आई0, पृ0 297, 298, 320, 321.
3. समन्तपासादिका, द्वितीय भाग (पटना, 1965), पृ0 686-87
4. अपराजितपृच्छा, पृ0 186, श्लोक 13,

के उत्पीड़न का उल्लेख मिलता है । सोमप्रभाचार्य के कुमारपालप्रतिबोध[1] में तत्कालीन कर-व्यवस्था को रक्त चूसने वाली (शोषण करने वाली) बताया गया है । विद्याकर (12वीं शताब्दी) के सुभाषितरत्न-कोष[2] में संगृहीत एक श्लोक में भी भोगपति (राजा द्वारा नियुक्त किसी क्षेत्र का शासक या राजा से ग्राम के भोग का अधिकार प्राप्त करने वाला व्यक्ति)[3] द्वारा गाँव के कृषकों के उत्पीड़न एवं शोषण का साक्ष्य मिलता है । पर उसमें यह भी मिलता है कि गाँवों में रहने वाले कुछ परिवार(कुल)अपनी वंशानुगत भूमि के कारण अत्यन्त विपन्न हो जाने पर भी ग्राम नहीं छोड़ते थे । भोगपतियों द्वारा ग्राम के लोगों के उत्पीड़न का उल्लेख हम बाण के हर्षचरित[4] में भी पाते है । भोगपति, भोगिक और भोगी सामन्ती अनुक्रम में निम्नतम स्तर पर थे[5]। इस प्रकार सामन्ती व्यवस्था के विकास के फलस्वरूप कृषकों का शोषण और बढ़ा होगा ।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि किसानों के प्रति राजाओं की नीति

---

1. राहुल सांकृत्यायन द्वारा उद्धृत, हिन्दी काव्यधारा, पृ0 416.
2. सुभाषितरत्नकोष, सम्पादक डी0 डी0 कोसम्बी एवं वी0 वी0 गोखले, हरवर्ड, 1957, श्लोक 1175.
3. मिताक्षरा में मिलता है कि भूमिदान का अधिकार भूपति का ही होता है, भोगपति का नहीं ।
4. हर्षचरित, सम्पादक पी0 वी0 काणे, पुनर्मुद्रित, दिल्ली, 1973, पृ0 58.
5. बी0 एन0 एस0 यादव, प्रजीडेंशल ऐड्रेस (ऐंशेंट इंडिया सेक्शन), इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस (41वाँ सेशन), पृ0 56-57.

केवल शोषण की ही नहीं थी। उनके रक्षण और पालन पर भी उस काल के साहित्य में काफी बल दिया गया है[1]। जिनसेन (9वीं शताब्दी) के आदि पुराण (42.139 और आगे) मे कृषकों के रक्षण-पालन को महत्त्वपूर्ण बताया गया है। भोज (11वीं शताब्दी) के युक्तिकल्पतरु (पृ0 6) में यह कहा गया है कृषि, जो सभी सम्पदाओं का मूल है, की वृद्धि के लिये प्रत्येक ग्राम में कृषकों का संरक्षण करना चाहिए। सोमदेव सूरि (10वीं शताब्दी) के नीतिवाक्यामृत (19.15,16) में भी कहा गया है कि किसानों की कच्ची फसल कटाकर कर-ग्रहण करना उनको दूसरे देश में उद्वासित कर देता है और पकी हुई फसल के काटने के समय सैन्य-प्रचार करना फसल को नष्ट कर दुर्भिक्ष उत्पन्न कर देता है।

इस प्रकार हम किसानों के रक्षण-पालन की तथा उनके शोषण की, इन दोनों विरोधी प्रवृत्तियों के साक्ष्य पाते हैं। स्थानीय कृषि-प्रधान आर्थिक व्यवस्था के बनाये रखने के लिये किसानों का रक्षण-पालन आवश्यक था। हम उनकी गतिशीलता पर नियन्त्रण लगाने के भी प्रयास पाते हैं। पर सामन्ती युग में विलसिता, दानशीलता एवं सैन्य-व्यय के बढ़ने के कारण किसानों का शोषण भी होता था। कुछ हद तक इसी प्रकार की स्थिति हम मध्य युगीन योरप में भी पाते हैं, जहाँ सामन्तों द्वारा आश्रित कृषकों का रक्षण-पालन करने के साथ-साथ उनसे आज्ञा पालन कराने और उनका शोषण एवं उत्पीड़न करने की प्रवृत्तियाँ साथ-साथ प्रचलित थीं[2]।

---

1. बी0 एन0 एस0 यादव, एस0 सी0 एन0 आई0, पृ0 163 और आगे।
2. मार्क ब्लाश, फ्यूडल सोसाइटी, जिल्द 1, पृ0 279, बी0 एन0 एस0 यादव द्वारा उद्धृत, एस0 सी0 एन0 आई0, पृ0 170-71.

विष्टि एवं श्रम-सेवा

कृषि-कार्यों में विष्टि (बेगार) एवं श्रम-सेवा (labour service) के प्रचलन के सम्बन्ध में विवाद है। आर० एस० शर्मा, बी० एन० एस० यादव आदि के अनुसार इनका प्रचलन कुछ हद तक पूर्व मध्य काल में भारत में था। पर कुछ विद्वान इसे नहीं मानते हैं। इस सन्दर्भ में कुछ साक्ष्य ऐसे हैं जिनके आधार पर आगे विचार की आवश्यकता प्रतीत होती है।

ज्योतिष-शास्त्र के हल योग के फल के सन्दर्भ में कल्याण वर्मा की सारावली, जिसकी रचना सम्भवः गुजरात में 9वीं शताब्दी में हुयी, में मिलता है कि इस ग्रह-योग में उत्पन्न होने वाले लोग दरिद्र एवं दुःखी प्रेष्य कृषक होते हैं[1]। इस ग्रह-योग का फल 6ठीं शताब्दी के ज्योतिषशास्त्रज्ञ वराहमिहिर ने अपने बृहज्जातक में केवल कृषिकृत (कृषि करने वाला) होना बताया था[2]। पर भूमि के साथ प्रेष्य कृषकों के चार कुलों का एक नरेश द्वारा एक ब्राह्मण को दान करने का उल्लेख एक भूमिदान-पत्र[3] में भी मिलता है, जिसकी तिथि 5वीं से 7वीं शताब्दी के बीच बतायी गयी है और जो गोवा क्षेत्र से प्राप्त हुआ है। ज्योतिष के कुछ अन्य ग्रन्थों[4] में प्रेष्य को अस्वतन्त्र (प्रेष्यकमस्वतन्त्रम्) एवं अपने

---

1. बह्वाशिनो दरिद्राः कृषीबला दुःखिताश्च सोद्वेगाः।
   बन्धुसुहृत्संत्यक्ताः प्रेष्या हलसंज्ञिता पुरुषाः ॥ सारावली, 21.34.

2. बृहज्जातक, 12. 13.

3. ई० आई०, जिल्द 33. नं० 53; बी० एन० एस० यादव द्वारा उद्धृत, प्रेसीडेंशल ऐड्रेस, इण्डियन हिस्ट्री कांग्रेस, दिसम्बर 1980, (41वां सेशन), बम्बई, पृ० 24.

4. यवनजातक, 13.10,57,62; वृद्धयवनजातक, 19.3; द्रष्टव्य बी० एन० एस० य[ादव] वही, पृ० 24.

स्वामी के अधीन बताया गया है। इस प्रकार प्रेष्य कृषक आश्रित कृषक थे। राजस्थान[1] और गुजरात[2] के कुछ अभिलेखों में कुटुम्बिकों (कर्षकों)[3] के मन्दिरों को दान में दिये जाने के उल्लेख मिलते हैं। ये कुटुम्बी भी प्रेष्य कृषक ही रहे होंगे। इन प्रेष्य कृषकों से कृषि-कार्य में विष्टि एवं अथवा श्रम-सेवा बड़े भूमिपतियों, मन्दिरों, एवं राजाओं द्वारा ली जाती रही होगी। देवी पुराण (9वीं शताब्दी के लगभग) में यह स्पष्ट मिलता है कि राजा को दुर्ग के पास के निचले भाग में खेती करानी चाहिए और उसके लिये आस-पास के गाँवों (खेटकों) के निवासी कृषकों से सेवा लेना चाहिए (सेवने कार्यः)[4]। विष्टि (बेगार) के उल्लेख 10वीं शताब्दी तक के उत्तरी भारत के अभिलेखों में मिलते हैं, पर साहित्य में इसके बाद भी इसके उल्लेख मिलते हैं। 11वीं और 12वीं शताब्दियों के अभिलेखों में विष्टि का न मिलना उसके प्रचलन के कम होने का सूचक माना जा सकता है। यह विष्टि कुछ हद तक कृषि-कार्य में भी ली जाती रही होगी, पर इस सम्बन्ध में अभी तक पर्याप्त साक्ष्य नहीं मिल पाये हैं।

---

1. ई० आई०, जिल्द 33, पृ० 244 और आगे।
2. इण्डियन एंटीक्वेरी, जिल्द 11, पृ० 337-40.
3. मनु 4.253 पर मेधातिथि.
4. देवी पुराण, सं० पी० के० शर्मा, नई दिल्ली, 1976, 73.26 और आगे।
   बी० एन० एस० यादव द्वारा उद्धृत, अपर उद्धृत प्रेसीडेंशल ऐड्रेस, पृ० 28.

पाँचवी शताब्दी में बुद्धघोष ने समन्तपासादिका में कोशल नरेश के पूर्वनिमित्तभूत (पुब्बनिमित्तभूतं) स्वप्नों का उल्लेख करते हुये यह कहा है कि ऐसे स्वप्न भविष्य में एकदम सत्य घटित होने वाली घटनाओं एवं स्थितियों के सूचक होते हैं।[1] इससे यह स्पष्ट होता है कि बुद्धघोष ने अपने समय में इन स्थितियों का उदय देखा था जिनके वे स्वप्न निमित्तभूत थे। इन स्वप्नों तथा उनसे सूचित होने वाली आगे आने वाली स्थितियों का विवरण महासुपिन जातक[2] के गद्य में लिखे गये अंश में मिलता है।

इनमें से एक स्वप्न के आधार पर सूचित होने वाले सामाजिक परिवर्तन का वर्णन निम्नवत् मिलता है :-

"आगे आने वाले दिनों में दुनिया की अवनति होगी .... इसके राजा गरीब हो जायेंगे। तब ये राजा अपनी आवश्यकतावश जनपद के सभी लोगों से अपना कार्य करायेंगे; परिश्रम करने वाले लोग राजा के लिये, अपना काम

---

1. समन्तपासादिका, भाग 2 (पटना, 1965), पृ0 517, पंक्तियाँ 2,6.
2. दि जातक, जिल्द 1, सम्पादक वी0 फाउसबॉल, पृ0 339;
   दि जातक, जिल्द 1, सम्पादक ई0 बी0 कावेल एवं अनुवादक चामर्स, पृ0 190;
   बी0 एन0 एस0 यादव द्वारा उद्धृत, आई0 एच0 आर0,
   जिल्द 5, नं0 1-2, पृ0 55.

छोड़कर, ... अनाज एवं दालें बोयेंगे, खेतों की रखवाली करेंगे तथा कटाई, मड़ाई एवं (धान्य का) संग्रह करेंगे; राजा के लिये वे ईख लगायेंगे, ईख पेरने के यन्त्रों को बनायेंगे एवं उन्हें चलायेंगे और शीरा बनायेंगे; राजा के लिये फलों के उधान एवं बाग लगायेंगे तथा फलों को एकत्रित करेंगे । इस प्रकार विभिन्न प्रकार का उत्पादन करते हुये वे राजा के कोष्ठागार को परिपूर्ण करेंगे, और अपने रिक्त बखार की ओर वे झाँक भी नहीं पायेंगे"[1] । इसी संदर्भ में यह भी कहा गया है कि ये राजा लोगों से अधिक कर लेने लगेंगे । उस समय राज्य कमजोर हो जायेंगे, और जो राजाओं का सर्वोपरि स्वामी (इस्सरो) होगा उसके कोष में भी एक लाख कार्षापण से अधिक द्रव्य न रह जायेगा ।

कुछ अतिरंजित होते हुये भी यह वर्णन सामन्ती व्यवस्था के छोटे छोटे राजाओं, उनके स्वामी सम्राट, कृषकों से कृषि-कार्य में ली जाने वाली श्रम-सेवा[2], एवं सिक्कों की कमी की ओर संकेत देता है । पूर्व मध्यकाल में हमें एक गाँव तक के राजा के उल्लेख मिलते हैं । 8वीं शताब्दी के बिहार के हजारीबाग जिले से प्राप्त एक अभिलेख[3] से हमें एक गाँव के राजा का उल्लेख मिलता है, जिसके दो अधीनस्थ सरदारों में से प्रत्येक एक गाँव पर शासन करता था । इसी प्रकार अपराजितपृच्छा[4] (12वीं शताब्दी)

---

1. दि जातक, जिल्द 1, ऊपर उद्धृत स्थल ।
2. यह श्रम-सेवा आकस्मिक रूप से बलात् ली जाने वाली विष्टि (बेगार) से भिन्न हो सकती है ।
3. ई० आई०, जिल्द 2, संख्या 27.
4. अपराजितपृच्छा, पृ० 201; बी० एन० एस० यादव द्वारा उद्धृत, एस० सी० एन० आई०, पृ० 149.

में भी सामन्ती ढाँचे से सम्बन्धित कई कोटि के बड़े- छोटे राजाओं के साथ एक-एक गाँव के भी राजाओं का उल्लेख मिलता है । डामरों के उदय के कारण कश्मीर में लगभग इसी प्रकार की स्थिति आ गई थी, और कल्हण ने उसे अराजकता अथवा भूरिराजकता की संज्ञा दी है । केन्द्रीय राजनीतिक शक्ति के कमजोर होने पर गाँव के मुखिया, ग्रामस्वामी, एवं साधन - सम्पन्न लोग अपनी शक्ति बढ़ाकर गाँव के लोगों की सहमति से अथवा साहस के द्वारा छोटे सरदारों की भाँति हो जाते थे और राजनीतिक शक्ति प्राप्त कर लेते थे[1] । ये सब अपनी स्थिति मजबूत करने के लिए तथा साधन - सम्पन्नता बढ़ाने के लिये लोगों से कर लेने के अतिरिक्त कृषि भी कराते रहे होंगे । कश्मीर के इसी प्रकार के ग्राम-स्वामी डामर सरदारों के लिये कल्हण ने "कर्षकप्राय"[2] शब्द का प्रयोग किया है । पूर्व मध्यकाल में सिक्कों की स्थिति के सम्बन्ध में विवाद के बावजूद इतना स्पष्ट है कि इस काल के सिक्के अधिक नहीं उपलब्ध हुए हैं और वे अच्छे प्रकार के भी नहीं हैं[3] । ऐसी स्थिति में इस काल में कृषिप्रधान ग्रामीण अर्थव्यवस्था का पलड़ा विशेष रूप से भारी हो गया होगा । पर पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण (11वीं एवं 12वीं शताब्दियों) में सिक्कों, व्यापार एवं नगरों के विकास के प्रमाण मिलने लगते हैं,[4] और इस प्रकार स्थिति में कुछ परिवर्तन हुआ होगा ।

---

1. बी० एन० एस० यादव, ऊपर उद्धृत कृति, पृ० 239 .
2. राजतरङ्गिणी, 8.709.
3. पर 700 ईसवी से 1000 ईसवी के काल के इण्डो-सासानियन और कुछ अन्य प्रकार के सिक्के मुख्यत: गंगा के दोआब के क्षेत्र में बड़ी संख्या में उपलब्ध हुए हैं पी० भाटिया, जे०एन०एस०आई०, जिल्द 50 (1988), भाग 1-2, पृ० 99-1 यहाँ मुद्रा - प्रचलन में द्वीपीय स्थिति परिदृष्ट होती है ।
4. बी० एन० एस० यादव, ऊपर उद्धृत, पृ० 275 और आगे ।

इस काल के छोटे-छोटे राजा, सरदार एवं भूमिपति, उन परिस्थितियों में जिनमें कृषि का अपेक्षाकृत अधिक प्राधान्य होने लगा, अपने-अपने कृषि-कार्य में कृषकों से विष्टि या श्रम-सेवा लेने लगे होंगे। हर्ष जैसे बड़े नरेश, जैसा कि ह्वेनसांग[1] के विवरण से ज्ञात होता है, विष्टि बहुत कम लेते थे। ह्वेनसांग कृषि में भी विष्टि लेने का कोई उल्लेख नहीं करता। पर पूर्व मध्यकाल में छोटे राजाओं और सरदारों के सम्बन्ध में स्थिति भिन्न रही होगी। मध्यकाल (17वीं शताब्दी के पूर्वार्ध) के ग्रन्थ उक्ति-रत्नाकर[2] में राजस्थान, गुजरात, सौराष्ट्र, मालवा आदि की परम्परा-सम्मत शब्दों एवं कथनों का संग्रह मिलता है। इसके एक कथन से ज्ञात होता है कि छोटे राजा लोगों से अपने कृषि-कार्य में श्रम-सेवा लेते थे। यह पूर्व मध्यकाल की परम्परा की ही अविच्छिन्नता प्रतीत होती है। पर पूर्व मध्यकाल के स्रोतों में इस प्रथा का वर्णन उपलब्ध नहीं हो पाया है। गाँवों में उच्च स्तर के कृषकों द्वारा दरिद्र लोगों से कृषि-कार्य में विष्टि भी लेने का एक अपेक्षाकृत स्पष्ट संकेत भागवत पुराण, जो 800 ई० के बाद का नहीं हो सकता, में मिलता है। एक स्थल पर इसमें भरत की कथा मिलती है, जिसमें यह कहा गया है कि जब भरत दूसरों का

---

1. वाटर्स, आन युआन-च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया, पृ० 167.

2. साधु सुन्दर गणी का उक्तिरत्नाकर, सम्पादक मुनि जिन विजय, राजस्थान पुरातन ग्रन्थ माला (21), जयपुर, 1957, पृ० 73- राउ लोकपाहिं करसणु करावइ (राजा लोकैः कर्षणं कारयति)।

काम करने के लिये वेतन के रूप में उनसे आहार पाने इच्छा करने लगे तो उनके भाइयों ने भी {स्वभ्रातृरपि} उन्हें खेत के काम में {केदारकर्मणि} लगा दिया {निरूपितः} । यहाँ "अपि" {भी} शब्द से यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि ग्राम के अन्य बड़े लोग भी भरत से इसी प्रकार भोजन देकर खेती का काम कराते रहे होंगे । इसी कथा में इस बात का भी स्पष्ट उल्लेख मिलता है कि {ग्राम के} अन्य लोग भरत से विष्टि लेकर अथवा वेतन देकर {विष्टितो वेतनतो वा}[2] काम कराते थे, और उन्हें केवल भोजन ही देते थे । इस प्रकार प्रकरण-सामर्थ्य या सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि ग्राम के लोग भरत से बलात् विष्टि लेकर अथवा वेतन के रूप में केवल भोजन देकर वही काम कराते थे जिसमें भरत के भाइयों ने भी उन्हें लगाया, और वह था खेत का काम ।

भागवत पुराण में विष्टि और वेतन में अन्तर माना गया है ।. यहाँ यह उल्लेखनीय है कि विष्टि शब्द का प्रयोग सामान्यतः बिना वेतन दिये बलात् {जबरदस्ती} काम कराने के अर्थ में होता था । पर कर्मानुरूप वेतन न देकर भोजन मात्र पर काम कराने को भी विष्टि के ही अन्तर्गत माना जाता

---

1. यदा तु परत आहारं कर्मवेतनत ईहमानः ....

भागवत पुराण, 5.9.11.

2. वही, 5.9.9

था । भोजन को किये गये काम के वेतन के रूप में मानने से कोई अन्तर नहीं पड़ता क्योंकि वास्तव में वह निर्मूल्य कर्म ही था । फिर, जैसा कि भागवत पुराण (5.9.9) के भी साक्ष्य से ज्ञात होता है, विष्टि करनेवालों को अन्न मिलता था ।

इस प्रकार भागवत पुराण का उपर्युक्त साक्ष्य गाँवों में उच्च स्तर के कृषकों द्वारा भी कृषि-कार्य के लिये विष्टि लेने की परम्परा की ओर संकेत करता है । पर इस पुराण में कहीं भी इस बात का सीधा उल्लेख नहीं मिलता कि कृषि के लिये विष्टि लेनी चाहिए अथवा किसी ने कृषि के लिये विष्टि लिया । पर केवल इस प्रकार के कथन के न मिलने के आधार पर ही कोई सम्यक् निष्कर्ष नहीं निकाला जा सकता । पूर्व मध्यकालीन भारत में कृषि के लिये विष्टि का प्रयोग मध्ययुगीन योरप की अपेक्षा बहुत कम रहा होगा । यहाँ कृषि के क्षेत्र में आर्धिक एवं भागभृत की भूमिका अधिक महत्त्वपूर्ण लगती है । राजा, सरदार एवं भूमिपति बड़े-बड़े भूखण्डों पर स्वयं कृषि अधिक न कराते रहे होंगे ।

---

1. उदाहरणार्थ कामसूत्र की जयमङ्गला टीका (13वीं शताब्दी) में विष्टिकर्म को मात्र भोजन देकर कराया जाने वाला कर्म बताया गया है- भक्तमात्रेण ...... विष्टिकर्माणि, कामसूत्र, 5. 5-6 पर ।
2. द्रष्टव्य, जी० के० राय, इनवालन्टरी लेबर इन ऐंशेंट इंडिया, पृ० 173.

वास्तव में प्राचीनकाल से लेकर 12वीं शताब्दी तक विष्टि (बेगार) के अधिकतर उपलब्ध साक्ष्य कृषि से सम्बन्धित नहीं मिलते हैं। इसका प्रचलन प्रायः सामान ढुलाने (कश्मीर एवं नेपाल में), सेना में श्रमिक का काम कराने, किले एवं अन्य राजकीय भवनों के निर्माण कराने, तालाब के निर्माण एवं उसकी मरम्मत आदि जनहित के कार्य कराने, गृह-कार्य कराने, खानों के खोदाने, शिल्पियों से काम कराने, राजकीय हाथियों एवं घोड़ों के लिये चारा इकट्ठा कराने आदि में मिलता।

गुप्त काल में फाहियान ने इस बात का उल्लेख किया था कि बौद्ध बिहारों को खेत और बाग उनके जोतने हेतु कृषकों और बैलों के साथ दिये जाते थे। ये कृषक दास के रूप में नहीं दिये जाते थे[2]। बुद्धघोष की समन्तपासादिका[3] में दास के रूप में लोगों को देना ठीक नहीं माना गया है, और उन्हें आरामिक और वेय्यावच्चकर (वैयावृत्यकर) के रूप में देने का विधान किया गया है[4]। इस प्रकार उनके श्रम पर नियन्त्रण के अधिकार के अन्तरण की बात यहाँ मिलती है। यह बात उन कृषकों के सम्बन्ध में लागू समझी जा सकती है जिनके बौद्ध विहारों को दान का उल्लेख फाहियान ने किया है। ये प्रतिबद्ध कृषक प्रतीत होते हैं, जिन्हें बौद्ध विहारों को दान में मिली हुई भूमि पर कृषि ——————

---

1. द्रष्टव्य जी० के० राय, इनवालंटरी लेबर इन ऐंशेंट इंडिया, पृ० 208. कल्हण की राजतरंगिणी में बेगार लेकर सामान ढुलाने के लिये रूढभारोढि शब्द मिलता है।

2. लेगे, ए रेकार्ड आफ बुद्धिस्टिक किंगडम्स, पृ० 43.

3. "दासं दम्मी" ति वदति, न वट्टति। समन्तपासादिका, भाग 2, पृ० 690, पंक्ति 23.

4. वही, पूर्वोद्धृत पृष्ठ।

करना पड़ता था । सातवीं शताब्दी में इत्सिंग[1] ने बौद्ध संघ द्वारा कृषि-कार्य कराने की सामान्य प्रथा का उल्लेख किया है । इसके अनुसार संघ विहार के कर्मकरों या अन्य कृषक परिवारों को खेत और बैल देता था और उनसे प्रायः उपज का छठा भाग लेता था । इत्सिंग एवं फाहियान के विवरणों को मिलाकर देखने से लगता है कि ये कर्मकर एवं कृषक अस्थायी काश्तकार (tenant) या प्रतिबद्ध कृषक के रूप में रहे होंगे जो विहार को किराया (rental) देते थे[2] ।

कृषकों के सुखी जीवन एवं संपत्ति-लक्षण की परिकल्पना

कलचुरि कर्ण के समकालीन बब्बर (11वीं शताब्दी) की एक प्राकृत कविता में हम मध्यवर्गीय कृषकों के सुखी जीवन की परिकल्पना पाते हैं[3] । इसके अनुसार गुणवन्त पुत्र, सुकर्मरत एवं विनीत स्त्री, पूर्ण नियन्त्रण में रहने वाले भृत्यगण (हक्क तरासइ भिच्चगणा), विशुद्ध देह, स्वधर्म में लगा चित्त, धन से पूर्ण घर, चित्त से पूर्ण मुद्दहरा, ऊँची छाजन का मकान, धनवन्त (उपजाऊ) भूमि, गाय का ———————————

---

1. इत्सिंग, ए रेकार्ड आफ दि बुद्धिस्ट रिलिजन एज प्रैक्टिस्ड इन इंडिया ऐण्ड दि मलय आर्किपिलागो, अनुवादक जे० ताकाकुसु (दिल्ली, 1966), पृ० 61.
2. आर० एस० शर्मा, इण्डियन फ्यूडलिज्म (द्वि० संस्करण), पृ० 38.
3. राहुल सांकृत्यायन, हिन्दी काव्य-धारा, पृ० 314-17.

घी एवं दूध, भोजन में ओग्गर (वासमती ?) का चावल/भात, मोइल मछली (मच्छा)[1] और शाक, ये सब सुखी जीवन के लक्षण माने गये हैं । मेधातिथि के अनुसार, विशेष समृद्ध लोगों की सम्पत्ति के लक्षण बहुत से भृत्य, गायें, घोड़े आदि थे[2]। ये सम्पत्ति के लक्षण बड़े कृषकों के थे, जो ग्रामस्वामी आदि होते थे ।

सामान्य कृषकों का ऋणग्रस्तता-जनित शोषण एवं उनकी प्रतिबद्धता

कृषकों की ऋणग्रस्तता के सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण साक्ष्य भागवत पुराण में वर्षा एवं शरद ऋतु के वर्णन के सन्दर्भ में मिलता है । यहाँ यह कहा गया है कि जब खेतों में शारदीय फसल भरपूर लहलहाने लगी थी तो उसे देखकर किसान मारे आनन्द के फूले न समाते थे, परन्तु सब कुछ प्रारब्ध के अधीन है— यह बात न जानने वाले धनिकों के चित्त में बड़ी जलन हो रही थी[3]। स्पष्ट है कि वे ऋण देने वाले धनी (उत्तमर्ण) यह सोचते थे कि अब तो किसान अच्छी पैदावार होने पर अपना ऋण चुका कर और आगे ऋण न लेंगे और इस प्रकार उनके चंगुल से मुक्त हो जायेंगे[4] ।

---

1. पर मछली सभी लोग न खाते रहे होंगे ।

2. बहुभृत्यगवाश्वादि सम्पत्तिलक्षणानि, मनु 4.174 पर मेधातिथि ।

3. क्षेत्राणि सस्य सम्पद्भिः कर्षकाणां मुदं ददुः ।
   धनिनामुपतापं च दैवाधीनमजानताम् ।।

   भागवत पुराण, 10.20.12.

4. द्रष्टव्य, उपरोक्त श्लोक का अनुवाद गीता प्रेस, गोरखपुर, के संस्करण में ।

इसी प्रकार का एक साक्ष्य प्रसिद्ध दार्शनिक शंकराचार्य (लगभग 788-820 ई०) के बृहदारण्यक उपनिषद् के भाष्य[1] में मिलता है। यहाँ यह कहा गया है कि देवता लोग यह नहीं चाहते हैं कि अस्वतन्त्र मनुष्य अमृतत्व (चरमसत्य या ब्रह्म) का ज्ञान प्राप्त कर मोक्ष पा लें। वे ऋणदाताओं की भाँति यही चाहते हैं कि मनुष्य सदैव उनके ऋण के शिकंजे में फँसे रहकर उनके आश्रित बने रहें, और इस प्रकार अस्वतन्त्र रहकर वे उन देवताओं की वृत्ति (यज्ञ, दान, पूजा-पाठ आदि) चलाते रहें। इस उपमा से यह स्पष्ट हो जाता है कि ऋण देने वाले भूमिपति और धनी लोग ऋण के माध्यम से लोगों को स्थायी रूप से आश्रित बनाकर उनसे लाभ के लिये कार्य कराने का प्रयास करते थे।

भागवत पुराण एवं शंकर के भाष्य के सम्मिलित साक्ष्य से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व मध्यकाल में कृषकों को आश्रित बनाने एवं उनसे कार्य कराने के लिये ऋण एक प्रमुख साधन बन गया था। ये ऋणग्रस्त कृषक, जैसा कि मेधातिथि (9वीं0 शताब्दी) के मनु पर भाष्य[2] से ज्ञात होता है, गरीब कृषक ——

---

1. आत्मनो वृत्तिपरिपालयिषयाऽधमर्णानिव देवाः परतन्त्रान्मनुष्यान्प्रत्यमृतत्व-प्राप्तिं प्रति विघ्नं कुर्युरिति ..... तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेतान्मनुष्या विद्युरिति। बृहदारण्यक उपनिषद्, 1.4.10 पर शंकराचार्य।
बी0एन0 एस0 यादव द्वारा उद्धृत, "दि एकाउंट्स आफ दि कलि एज ऐण्ड दि सोशल ट्रैंजिशन फ्राम एंटीक्विटी टु दि मिडिल एजेस" आई0एच0आर0, जिल्द 5, नं0 1-2, पृ0 41, पादटिप्पणी 10.
2. निर्धनोऽधमर्णो निर्धनत्वात् न मुच्यते किंतर्हि कर्म कारयितव्यः। मनु0, 8.117 पर मेधातिथि।

थे, जिनसे ऋण न अदा करने की स्थिति में कार्य करने की अपेक्षा की जाती थी। मारुचि {6वीं-7वीं शताब्दी} तथा मेधातिथि के मनुस्मृति पर भाष्यों में कायिका का अर्थ शारीरिक श्रम द्वारा ऋण का ब्याज देना बताया गया है। मारुचि के पहले कायिका का यह अर्थ कहीं नहीं मिलता। इससे यह संकेत मिलता है कि पूर्व मध्यकाल में ही इस प्रथा का विकास हुआ।

मेधातिथि के भाष्य से यह भी स्पष्ट होता है कि इस प्रकार की आश्रित होने की स्थिति दासता नहीं थी[1]। ऋण के ब्याज की अदायगी के लिये अपनी या अपनी से नीची जाति के अधमर्णों द्वारा ही कर्म कराने का विधान किया गया था। पर ब्राह्मण अधमर्णों से किसी के भी द्वारा इस प्रकार कर्म कराने का निषेध किया गया था। प्रोफेसर आर० एस० शर्मा ने पूर्व मध्यकाल में उपभोग {अनाज एवं भूमि} के एवं नगद {cash} के ऋणों पर बढ़ी ब्याज की दरों के साहित्यिक एवं अभिलेखीय साक्ष्य के आधार पर कृषकों के शोषण पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डाला है[2]। उनके अनुसार, कृषकों को मध्ययुगीन योरप के सर्फ की भाँति प्रतिबद्ध करने वाली भूमि के ऋण की प्रथा लगभग छठी शताब्दी से प्रारम्भ हुई[3]। ब्याज की अदायगी के लिये कर्म कराने की इस प्रथा के अवशेष आधुनिक काल तक पाये गये हैं। पश्चिमी बंगाल के एक आधुनिक

---

1. द्रष्टव्य, बी० एन० एस० यादव, आई० एच० आर०, जिल्द 5, नं० 1-2, पृ० 41-42.
2. आर० एस० शर्मा, "यूजरी इन अर्ली मेडीवल इंडिया ...." कम्पैरेटिव स्टडीज इन सोसाइटी एण्ड हिस्ट्री, जिल्द 8, नं० 1, पृ० 60, 65, 66, 68.
3. वही, ऊपर उद्धृत पृष्ठ।

सर्वेक्षण[1] से यह पता चलता है कि भूमिपति उत्तमर्णों से गरीब कृषक व्यापक रूप से ऋण—विशेष रूप से उपभोग हेतु अनाज का ऋण—लेते थे। ये कृषक, जो प्रायः आर्थिक होते थे, ऋण के जाल से नहीं निकल पाते थे, और इस प्रकार अपने द्वारा जोती जाने वाली भूमि एवं उत्तमर्ण भूमिपति से प्रतिबद्ध हो जाते थे। उन्हें कुछ हद तक मध्ययुगीन योरप की सामन्ती व्यवस्था के सर्फ लोगों के समकक्ष माना गया है। पर इनकी प्रतिबद्धता योरप के सर्फ लोगों की अपेक्षा कम थी।

एकभोग ग्राम में कृषकों की स्थिति

के० रङ्गाचारी[2] ने अपने एक लेख में मानसार[3] का उदधरण दिया है, जिसमें एकभोग ग्राम को ग्राम का एक प्रकार बताया गया है। ऐसा ग्राम विप्र या अन्य वर्ण के व्यक्ति द्वारा भोग्य होता था। इसमें वही भोग करने वाला व्यक्ति ग्रामणिक (ग्राम का प्रधान) होता था, और ग्राम के अन्य सभी निवासी उसके भृत्य एवं परिचारक होते थे। ऐसे ग्रामों में द्विज लोग बहुत कम संख्या

---

1. ए० भदूरी, दि ईकोनॉमिक जर्नल (दि क्वार्टरली जर्नल आफ दि रायल ईकोनॉमिक सोसाइटी), जिल्द 83, नं० 329, पृ० 120 और आगे: बी० एन० एस० यादव द्वारा उद्धृत, आई० एच० आर०, जिल्द 5 नं० 1-2.
2. "टाउन प्लैनिंग ऐण्ड हाउस-बिल्डिंग इन ऐंशेंट इंडिया अकार्डिंग टु शिल्पशास्त्रस", आई० एच० क्यू०, जिल्द 3, पृ० 826. इस साक्ष्य की ओर मेरा ध्यान डा० बी० एन० एस० यादव द्वारा आकर्षित किया गया।
3. विप्रैरथान्यैर्वर्णैर्वा भोग्यो ग्राम उदाहृतः। एको ग्रामणिको यत्र सभृत्यपरिचारकः।। के० रङ्गाचारी, ऊपर उद्धृत, पृ० 826.

में रहते थे[1]। के0 रङ्गाचारी ने यह अनुमान लगाया है कि ऐसे ग्राम में राजा के करद जमींदार की भाँति एकभोग करने वाले व्यक्ति के आश्रित एवं वशवर्ती बहुत से भृतक एवं उसके काश्तकार (lease-holders) रहते रहे होंगे[2]। पर बहुत से ग्राम-दान पाने वाले जागीरदारों और भोगपतियों के ग्राम भी एकभोग ग्राम रहे होंगे[3]। गुप्त काल से लेकर 12वीं शताब्दी तक के साहित्य एवं अभिलेखों में ग्रामों के भोग करने वाले भोगियों, भोगपतियों आदि के उल्लेख मिलते हैं[4]। इसमें से बहुत से ग्राम एकभोग के रूप में रहे होंगे। ऐसे ग्राम कुछ हद तक मध्ययुगीन योरप के मैनर[5] की भाँति रहे होंगे, जहाँ एक लार्ड के अधीन कई आश्रित कृषक एवं अन्य कर्मकर रहते थे। इस प्रकार के एकभोग ग्रामों का उल्लेख 16वीं शताब्दी में रचित केशव के कल्पद्रुकोश[6] में भी मिलता है, जो

---

1. के0 रङ्गाचारी, ऊपर उद्धृत, पृ0 826-27.
2. वही, ऊपर उद्धृत पृष्ठ।
3. दक्षिण के सुन्दर चोल के अनबिल प्लेट्स में भी एकभोग-ब्रह्मदेय के रूप में 10 वेलि भूमि के राजा द्वारा दान का उल्लेख मिलता है, नीलकान्त शास्त्री, दि चोलस, मद्रास, 1975, पृ0 577-78.
4. बी0 एन0 एस0 यादव, ऊपर उद्धृत, पृ0 55-57.
   गुप्त काल में भोगिक एवं भोगपतिक वंशानुगत अधिकारी एवं जागीरदार के रूप में भी मिलते हैं। आर0 एस0 शर्मा, ऐस्पेक्टस आफ पोलिटिकल आइडियास ऐण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐंशेंट इंडिया, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, 1968, पृ0 260.
5. मार्क ब्लाश, फ्यूडल सोसाइटी, जिल्द 1,

पूर्व परम्परा का ही सूचक है । यहाँ भी यह कहा गया है कि ऐसे ग्राम में एक ग्रामपति के वशवर्ती भृत्य एवं परिचारक निवास करते थे । इस प्रकार के ग्रामों को ग्रामाटिका[1] कहा गया है, जो छोटे ग्राम होते थे : इनमें कुछ अग्रहार भी सम्मिलित थे । इस प्रकार के ग्रामों में कृषकों के भूमि-संबंधी अधिकार अधिकतर भूमि के उपयोग तक ही सीमित रहे होंगे । बेगार एवं कृषि हेतु श्रम-सेवा की भी सम्भावना इस प्रकार के ग्रामों में अधिक हो सकती थी । इस प्रकार इनमें आश्रित कृषकों की स्थिति का स्तर बहुत निम्न रहा होगा । पर अन्य प्रकार के ग्रामों में ऐसी स्थिति न रही होगी । कुछ अभिलेखों में भूमि या ग्राम दान के साथ शिल्पियों, कारीगरों एवं कुटुम्बिकों (कृषकों) को अन्तरित करने के उल्लेखों तथा कुछ साहित्यिक साक्ष्यों के आधार पर प्रो० लल्लन जी गोपाल[2] ने पूर्व मध्यकाल में उत्तरी भारत में कुछ हद तक अर्ध-मैनोरियल व्यवस्था के प्रचलन का मत व्यक्त किया है । पर स्रोतों से यह स्पष्ट नहीं होता कि इन लोगों के ऊपर किस सीमा तक अधिकार होते थे । लल्लन जी गोपाल[3] का मत है कि ये लोग मध्ययुगीन योरप की सामन्ती व्यवस्था के "सर्फ" के तुल्य कम और "विलेन"

आर० शर्मा (बड़ौदा, 1928), 1.1.11; बी०एन०एस०यादव द्वारा उद्धृत, प्रेसीडेंशल ऐड्रेस-ऐंशेंट इंडिया सेक्शन, इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस (41वां सेशन), पृ० 9, पादटिप्पणी 1.

1. ग्रामाटिका का उल्लेख जयदेव (13वीं शताब्दी, पूर्वी भारत) के प्रसन्नराघव नाटक में भी मिलता है । बी०एन०एस० यादव, द्वारा उद्धृत, वही, ऊपर उद्धृत स्थल ।
2. दि ईकोनॉमिक लाइफ आफ नार्दर्न इंडिया, पृ० 18 और आगे ।
3. वही, ऊपर उद्धृत ग्रन्थ, पृ० 24.

के तुल्य अधिक थे। प्रो० आर० एस० शर्मा[1] के अनुसार पूर्व मध्यकालीन भारत में भूमि से सम्बद्ध हलवाहक ही "सर्फ" के समान था।

सामान्य कृषकों की दरिद्रता एवं विपन्नता

सातवीं शताब्दी में रविषेण द्वारा रचित जैन पद्मपुराण[2] में हम सामान्य कृषकों (कृषीवलजनाः) की विपन्नता एवं दरिद्रता के कई स्थलों पर उल्लेख पाते हैं। इन्हें "धनोज्झिताः" (धनविहीन) बताते हुये यह कहा गया है कि एक ओर तो ये थे और दूसरी ओर अत्यन्त समृद्ध (अक्षीणधनसम्पन्नाः) लोग (भूमिपति लोग) थे। इन सामान्य कृषकों के अन्तर्गत अपर्याप्त भूमि वाले कृषक एवं कृषि-कर्मकर भी रहे होंगे। यथार्थ चित्रण के लिये प्रसिद्ध वाक्पतिराज (8वीं शताब्दी) के गौडवहो[3] में ग्रामों के कृषकों के लिए "पामर"[4] शब्द प्रयुक्त किया गया है, जिसका अर्थ दरिद्र एवं दयनीय व्यक्ति होता है। इसमें कहा गया है कि ग्रामोत्सव के दिनों में बच्चे और स्त्रियाँ आनन्द की अभिव्यक्ति करते थे, पर इन पामरों के मन में उदासी ही छायी रहती थी।

---

1. वही, इंडियन फ्यूडलिज्म, पृ० 57.
2. वही, 11.350, 31.70 और आगे; द्रष्टव्य बी० एन० एस० यादव, आई० एच० आर०, जिल्द 3, नं० 1, पृ० 46.
3. गौडवहो, सम्पादक एन० जी० सूरू, प्राकृत ग्रन्थ-परिषद (ग्रन्थाङ्क 18) अहमदाबाद, वाराणसी, 1975, श्लोक 598.
4. वही पृ० 332.

सामान्य ग्रामीण कृषक के सम्बन्ध में क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी) ने अपने दर्पदलन[1] में कहा है कि वह राजा द्वारा पीडनीय था, तथा वह इतना दरिद्र था कि बिना पकाये गये कच्चे शाक[2] का भोजन करता था। अल्बेरूनी[3] के अनुसार, सामान्य लोग कर वसूलने वालों को अपनी सम्पत्ति बताने में सदैव झूठ बोलते थे। वे कुछ हद तक बोझिल करों को देने में असमर्थता के कारण भी ऐसा करते रहे होंगे।

नवीं शताब्दी के दार्शनिक वाचस्पति मिश्र के अनुसार धूल से सने पैर वाला हालिक विपन्नता, दरिद्रता एवं ज्ञानहीनता की प्रतिमूर्ति था। क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी) की अवदान-कल्पलता (24.94-96) में भी हम हल चलाने वाले कृषक की विपन्नता एवं दरिद्रता का चित्रण पाते हैं। कभी-कभी अतिशय दरिद्र कृषक दासता ग्रहण कर लेते थे और दूसरे के खेत पर काम करते थे (वही, 17.14)। पूर्व मध्यकाल में सामान्य कृषकों की दरिद्रता संस्कृत एवं अपभ्रंश कवियों के लिये एक विषय-वस्तु बन गई थी[4]।

---

1. पीडनीयस्य भुजा— पृ0 78, बी0 एन0 एस0 यादव द्वारा उद्धृत, एस0सी0एन0 आई0, पृ0 322, पादटिप्पणी 548.
2. निष्पाकशाकभोजस्य— वही, पूर्वोद्धृत पृष्ठ।
3. अल्बेरूनीज इंडिया, अनुवादक सखाउ, अध्याय 67, पृष्ठ 149.
4. बी0 एन0 एस0 यादव, एस0 सी0 एन0 आई0, पृ0 261

सामान्य कृषकों की दरिद्रता एवं विपन्नता के मुख्य कारण सम्पत्ति, विशेष रूप से भूसम्पत्ति, के अभाव अथवा अपर्याप्तता के अतिरिक्त कर का बोझ, बेगार, श्रम-सेवा, ऋणग्रस्तता एवं उनके भूमि-सम्बन्धी अधिकारों का प्रक्षीण होना था ।

कृषीवलों या कर्षकों की एक वर्ग के रूप में अवधारणा

छठीं शताब्दी में वराहमिहिर[1] ने विभिन्न नक्षत्र-समूहों को समाज के विभिन्न वर्गों के साथ सम्बन्धित करते हुये निम्नलिखित वर्णों एवं वर्गों का उल्लेख किया है :-

(1) अग्रज - ब्राह्मण

(2) राजा - क्षत्रिय

(3) कृषीवल

(4) वणिक

(5) उग्र जाति

(6) सेवाजन (सेवा में रत लोग)

(7) चण्डाल

यहाँ सामाजिक वर्णों के साथ मुख्य रूप से व्यावसायिक वर्गों का उल्लेख किया गया है । वराहमिहिर के इस मत का उद्धरण नरपति (12वीं शताब्दी) ने अपनी टीका में भी दिया है[2] । पर पहले की परम्परा

---

1. बृहत्संहिता, 15.28-30.
2. नरपतिजयचर्यास्वरोदय, प्रभाकरी यन्त्रालय, काशी, सं० 1962, पृ० 104.

में [illegible]-समूहों को समाज के चार वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, एवं शूद्र) से ही सम्बन्धित किया गया था[1]। इस प्रकार वराहमिहिर के समय में कृषीवलों को एक अलग व्यावसायिक वर्ग मानने की परम्परा दृष्टिगोचर होती है। नवीं शताब्दी में भट्टोत्पल[2] ने बृहत्संहिता की टीका में कृषीवल का अर्थ कर्षक, वैश्य (कर्षकाणां वैश्यानां) बताया है। कृषीवल या कर्षक को वैश्य बताना केवल इस व्यावसायिक वर्ग को वर्ण-व्यवस्था से सम्बन्धित करने का प्रयास था[3]। पर वास्तव में, जैसा कि पहले देखा जा चुका है, कृषीवल या कर्षक वर्ग के अन्तर्गत अन्य वर्णों के भी लोग थे। सोमदेव के नीतिवाक्यामृत (7, 32-34, 38 और आगे) में भी एक स्थल पर ब्राह्मण, क्षत्रिय, किराट, वणिक, और वैश्य के साथ-साथ कृषीवल का अलग उल्लेख मिलता है। इससे भी सिद्ध होता है कि वर्णों की विभाजक रेखा को काटते हुये कृषीवलों का एक अलग वर्ग बन रहा था। पर यह ठोस वर्ग नहीं था। बारहवीं शताब्दी में भुवनदेव ने अपने वास्तुशास्त्र के ग्रन्थ अपराजितपृच्छा[4] में वेदी-निर्माण का विधान, चारों वर्णों के साथ-साथ कर्षकों एवं प्रकृतियों

---

1. वही, पृ0 104, पंक्ति 1.
2. बृहत्संहिता, 15, 28 पर।
3. अमरकोश आदि कोश ग्रन्थों में भी हम इन्हें वैश्य, वर्ग के अन्तर्गत पाते हैं।
4. अपराजितपृच्छा, 77. 15-16.
   द्रष्टव्य लालमणि दुबे, अपराजित पृच्छा-ए क्रिटिकल स्टडी, लक्ष्मी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1987, पृ0 452.

(शिल्पियों) के वर्गों का उल्लेख करते हुये, दिया है, और उन सबके लिये अनुक्रम में अलग-अलग लम्बाई की गोदियाँ बनाने का नियम बताया है :-

(1) ब्राह्मण - 7 हस्त

(2) क्षत्रिय - 6 हस्त

(3) वैश्य - 5 हस्त

(4) शूद्र - 4 हस्त

(5) कर्षक - 3 हस्त

(6) प्रकृतियाँ (शिल्पी, कारीगर) - 2 या 1 हस्त

इस सामाजिक अनुक्रम में कृषकों को पाँचवा स्थान दिया गया है, पर इन्हें शिल्पियों एवं कारीगरों से ऊपर माना गया है। यहाँ "कर्षक" शब्द निम्न श्रेणी के कृषकों एवं कृषि-कर्मकरों के लिये ही प्रयुक्त लगता है।

कृषकों द्वारा प्रतिरोध

कर के बोझ, बेगार तथा अत्याचार (जैसे फसल काट लेना आदि) से पीड़ित होकर गाँव के लोगों की प्रतिक्रिया कई रूपों में व्यक्त होती थी। कश्मीर में ब्राह्मणों द्वारा भूख-हड़ताल के उदाहरण पाते हैं, जिसे उन्होंने उस समय किया था जब सैन्य-प्रचार से उनकी फसल के नष्ट होने का संकट उत्पन्न हो गया था[1]। कथासरित्सागर एवं स्कन्द पुराण में भी ब्राह्मणों

कश्मीर में कर्षकप्राय[1] सशस्त्र डामरों और डामर सरदारों के उदय तथा उनके विद्रोह की पृष्ठभूमि में कश्मीर के राजाओं द्वारा कृषकों का आर्थिक शोषण एक महत्वपूर्ण घटक प्रतीत होता है । इस शोषण की परम्परा को ललितादित्य ने नीति-बद्ध किया[2] । इसके अनुसार कृषकों के पास एक वर्ष से अधिक के लिये अन्न और कृषि-कार्य की आवश्यकता से अधिक बैल नहीं रहने देना चाहिए, क्योंकि वे इससे अधिक धन होने पर विद्रोही डामर बन जाते हैं[3] । ऐसा प्रतीत होता है कि डामर सरदार पहले राजकीय देयों के विरुद्ध आन्दोलन करने वाले कृषकों के नेता थे । पर बाद में वे सामन्ती व्यवस्था में सरदारों के तुल्य हो गये[4] । उत्तर प्रदेश के गाजीपुर जिले से प्राप्त एक अभिलेख[5] (1173ई0) से यह संकेत मिलता है कि गाँवों में सामान्य लोगों—

---

1. राजतरंगिणी, 8.709.
2. राजतरंगिणी, 4.345 और आगे । द्रष्टव्य डी0 डी0 कोसम्बी "ऑरिजिन्स आफ फ्यूडलिज्म इन कश्मीर", फ्यूडल सोशल फार्मेशन इन अर्ली इंडिया, सम्पादक डी0 एन0 झा, पृ0 137-38.
3. वही ।
4. बी0एन0एस0 यादव, "प्राब्लम आफ इंटरएक्शन बिट्वीन सोशियोईकोनॉमिक क्लासेज इन दि अर्ली मेडीवल काम्प्लेक्स" आई0 एच0 आर0, जिल्द 3, नं0 1, पृ0 56.
5. ई0 आई0, जिल्द 32, नं0 36;
   बी0 एन0 एस0 यादव, ऊपर उद्धृत, पृ0 209.

जिनमें कृषक भी रहे होंगे-- का असन्तोष कभी-कभी परिवाद, लूट-मार एवं विद्रोह का रूप धारण कर लेता था। आर० एस० शर्मा[1] ने बंगाल में रामपाल के समय के कैवर्त विद्रोह की ओर ध्यान आकर्षित किया है, जो स्पष्ट रूप से कृषकों का सशस्त्र विद्रोह था। कैवर्तों ने उत्पीड़क करों एवं सेवा के उपलक्ष्य में प्राप्त अपने खेतों से वंचित कर दिये जाने के विरोध में यह सशस्त्र विद्रोह किया था। पर उनका विद्रोह राजा द्वारा दबा दिया गया था। इस प्रकार के कृषक-विद्रोह का और कोई प्रमाण नहीं मिलता।

साक्ष्यों का भार यह दिखाता है कि सामान्यतः कृषकों का विरोध सामूहिक रूप से ग्राम छोड़ कर अन्यत्र चले जाने के माध्यम से व्यक्त होता है। इसके प्रमाण हम बुद्धघोस की समन्तपासादिका,[2] बृहन्नारदीय पुराण (38.87), सुभाषितरत्नकोष (श्लोक 1175) आदि में पाते हैं। पर अकाल की विभीषिका से विपन्न होकर भी लोग अपना स्थान छोड़कर दूसरी जगह चले जाते थे। अकाल के समय कर-भार के कारण कृषकों की विपन्नता अत्यधिक बढ़ जाती थी।

---

1. इंडियन फ्यूडलिज्म, द्वितीय संस्करण, पृ० 220, सन्ध्याकर नन्दी का रामचरित, 2.39-42.
2. समन्तपासादिका, द्वितीय भाग, (पटना, 1965), पृ० 686-87.

निष्कर्ष

कृषि हेतु भूमि का प्राथमिक महत्त्व रहा है, क्योंकि उपयुक्त भूमि के चयन पर ही कृषि-कार्य की सफलता निर्भर करती है। भूमि के कृषि-सम्बन्धी गुणों एवं उपयुक्तता के आधार पर उसके परीक्षण, विभेदीकरण एवं [illegible]करण की परम्परा का पूर्व मध्यकाल में विशेष विकास दृष्टिगोचर होता है।

चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता में मिलने वाली भूमि के वर्गीकरण की परम्परा पूर्व मध्यकाल में भी प्रचलित रही। इसके अनुसार भूमि को तीन भागों में विभक्त किया गया था — जाङ्गल (शुष्क), अनूप (जलीय) एवं साधारण (दोनों के लक्षणों से युक्त सामान्य शुष्क भूमि)। इस संबंध में संचित ज्ञान की परम्परा शार्ङ्गधरपद्धति (13वीं शताब्दी) में मिलती है। इसमें यह भी कहा गया है कि सभी प्रकार के पेड़ों के उगने एवं बढ़ने के लिये साधारण भूमि शुभ होती है। जैसा कि शार्ङ्गधर-पद्धति के उपवनविनोद अध्याय के साक्ष्य से ज्ञात होता है, पूर्व मध्यकाल में रंग एवं रस के आधार पर भी, पेड़-पौधों की उत्पत्ति एवं वृद्धि के दृष्टिकोण से, भूमि के भेदों को निरूपित करने का प्रयास किया गया। भूमि के विभेदीकरण के अन्य आधार भी मिलते हैं। अमरकोश, विश्वप्रकाशकोश, हलायुधकोश आदि ग्रन्थों में उर्वरता एवं कृष्टाकृष्ट के आधार पर भूमि का विभेद मिलता है। कोश-ग्रन्थों एवं व्याकरण-ग्रन्थों में विभिन्न फसलों की कृषि हेतु उपयुक्त खेतों के भी वर्ग मिलते हैं। उदाहरणार्थ, व्रीहि के लिये उपयुक्त खेत को व्रैहीयम् नाम दिया गया था। बाद के पूर्व मध्यकाल के ग्रन्थों में अमरकोश की अपेक्षा विभिन्न फसलों की कृषि हेतु उपयुक्त खेतों के अधिक वर्ग मिलते हैं। इससे

यह स्पष्ट है कि अमरकोश के काल से लेकर 11वीं-12वीं शताब्दी तक अनाजों एवं शाकों की कृषि हेतु खेतों की उपयुक्तता पर उत्तरोत्तर अधिक ध्यान दिया जाने लगा । मत्स्यपुराण (253.17, 18) में विभिन्न फसलों के लिये उपयुक्त भूमि के परीक्षण की एक सरल एवं व्यावहारिक विधि भी मिलती है । कृषि हेतु भूमि की गुणवत्ता के आधार पर उसका एक नया वर्गीकरण काश्यपीयकृषि-सूक्ति (श्लोक 38-39) में मिलता है । यह अवरोही क्रम में निम्नवत् है :

(1) ब्राह्मण भूमि,

(2) क्षत्रिय भूमि,

(3) वैश्य भूमि,

(4) शूद्र भूमि,

(5) संकीर्णगुण भूमि ।

इस वर्गीकरण की परम्परा हमें सबसे पहले 12वीं शताब्दी के ग्रन्थ अपराजितपृच्छा (51.3,4) में मिलती है । सिंचाई के साधनों के आधार पर भूमि एवं खेतों का विभाजन, जैसा कि अमरकोश में मिलता है, दो वर्गों में किया जाता था— नदीमातृक, और देवमातृक (वर्षा द्वारा सिंचित कृषि वाले) । प्राचीन जैन साक्ष्य के अनुसार भी खेतों के 2 वर्ग थे— केतु (वर्षा के जल से सिंचित होने वाले) और सेतु (कुएँ, बाँध आदि सिंचाई के कृत्रिम साधनों द्वारा सिंचित होने वाले) । पर पूर्व मध्यकाल के अन्तिम चरण तक आते-आते, जैसा कि आशाधर के धर्मामृत (सागार) (विक्रम सं० 1285 के पूर्व) से स्पष्ट होता है, सिंचाई के दृष्टिकोण से खेतों को 3 वर्गों में विभक्त किया जाने लगा :-

§1§ सेतु क्षेत्र §अरघट्ट आदि के जल से सींचे जाने वाले§,

§2§ केतु क्षेत्र §केवल वर्षा के जल से सींचे जाने वाले§,

§3§ उभय क्षेत्र §वर्षा के जल एवं सिंचाई के कृत्रिम साधन, दोनों से सींचे जाने वाले§ ।

इससे यह भी लगता है कि अरघट्ट आदि सिंचाई के कृत्रिम साधनों पर अधिक ध्यान दिया जाने लगा ।

मोटे तौर पर भूमि की माप की चार मुख्य पद्धतियाँ पूर्व मध्यकाल में प्रचलित थीं --

§1§ भूमि की सतह की वास्तविक माप, जो हस्त आदि की माप पर आधारित थी ।

§2§ भूमि की हल-माप, जो जोत के आधार पर थी ।

§3§ बोने हेतु आवश्यक बीज के आधार पर भूमि की माप, जैसे द्रोणिक शब्द उस खेत का बोधक था जिसके बोने के लिये एक द्रोण बीज की आवश्यकता होती थी ।

§4§ धान्योत्पत्ति के आधार पर भूमि की स्थूल माप, जैसे 4000 या 2000 परिमाण की उत्पत्ति वाली भूमि ।

इनमें से प्रथम दो माप पद्धतियाँ ही मुख्य थीं । पर इनमें भी क्षेत्रीय अन्तर मिलते हैं । पूर्व मध्यकाल में हल-माप की पद्धति भूमि-मापन के क्षेत्र में एक नया विकास द्योतितकरती है । इसका क्षेत्रीय अन्तरों के साथ उत्तरी भारत के एक विस्तृत क्षेत्र में प्रचार था । प्रारम्भ में हल शब्द भूमि

के उस क्षेत्र की स्थूल माप का बोधक रहा होगा जो एक जोड़ी बैलों से साल भर जोता जा सकता होगा। पर, जैसा कि आभिलेखिक साक्ष्य से ज्ञात होता है, हल शब्द उस भूमि क्षेत्र का बोधक हो गया जो एक हल द्वारा एक दिन में जोता जा सकता था। जहाँ तक चौथी माप-पद्धति का प्रश्न है, वह पूर्वी भारत के ही कुछ पूर्व मध्यकाल के अभिलेखों में मिलती है। हल-माप, बीज-नाप एवं सतह नाप के समीकरण सम्बन्धी साक्ष्य भी कुछ अभिलेखों में मिलते हैं। मालवा क्षेत्र के एक अभिलेख तथा एक चंदेल अभिलेख के साक्ष्य के आधार पर निम्न-लिखित समीकरण ज्ञात होता है :-

1 हल-नाप = 96 दण्ड = $\frac{3}{4}$ द्रोणवाप। भूमि-मापन की एक से अधिक पद्धतियाँ विभिन्न क्षेत्रों एवं उसी क्षेत्र में प्रचलित थीं। उदाहरणार्थ, एक चंदेल अभिलेख से ज्ञात होता है कि उस क्षेत्र में हल-नाप एवं द्रोण-नाप, दोनों प्रचलि

कुषाण-गुप्त काल से लोहे का प्रयोग बढ़ने लगा और उसका प्रभाव कृषि पर भी पड़ा। गुप्त काल से लेकर आगे भूमि-दान एवं ग्राम-दान की प्रथा बढ़ने लगी। भूमि एवं ग्रामों का दान प्राप्त करने वालों की संख्या भी बढ़ने लगी, तथा सामन्ती व्यवस्था के विकास के क्रम में भूमि में अधिकार का दावा करने वाले सामन्तों, ग्रामस्वामियों एवं स्थानीय सरदारों का बड़ी संख्या में उदय होने लगा। इस परिवेश में नई भूमि को कृषि के अन्तर्गत लाने की प्रक्रि अपेक्षाकृत बलवती होने लगी। इसके कुछ साक्ष्य हमें बुद्धघोस की समन्तपासादिक, हर्षचरित, कथासरित्सागर, मेधातिथि के मनुस्मृति पर भाष्य, काश्यपीय-कृषि-सूक्ति आदि स्रोतों में मिलते हैं।

पूर्व मध्यकाल में भूमि-सम्बन्धी अधिकारों के विषय में एक से अधिक परम्पराएँ मिलती हैं। भूमि पर सामुदायिक अधिकार की प्राचीन परम्परा इस काल की सामन्ती व्यवस्था के प्रभाव से प्रक्षीण हो गयी थी। भूमि पर वैयक्तिक स्वामित्व या अधिकार की परम्परा इस काल में सामान्य कृषकों का नहीं, अपितु भूस्वामियों का हित-संवर्धन करने लगी थी। इसी प्रकार राजा के भूस्वामित्व की परम्परा, सामन्तवाद के प्रभाव के फलस्वरूप राजनीतिक सत्ता के विखण्डन की स्थिति में, केवल सर्वोच्च सम्राट का ही नहीं, अपितु कुछ ग्रामों के स्वामियों तक, जो राजत्व से विभूषित हो जाते थे, का हित-संवर्धन करने लगी थी। इस काल में सामन्त प्रथा आर्थिक एवं राजनीतिक जीवन का महत्त्वपूर्ण पक्ष थी। सामन्त भी प्रायः भूस्वामित्व का दावा करने लगे। इसके कारण एक ओर तो उनके स्वामी नरेशों के भूमि-सम्बन्धी अधिकार कम हुए होंगे और दूसरी ओर किसानों के अपने भूमि पर अधिकार प्रक्षीण और परिसीमित हुए होंगे। यही स्थिति ग्रामस्वामियों और स्थानीय सरदारों के वर्ग के उदय के कारण हुई होगी।

भूमि-सम्बन्धी अधिकारों के समग्र ढाँचे को दृष्टिगत करने पर अनुक्रमनिष्ठ संयुक्त, समवर्ती या संगामी स्वत्व की स्थिति दृष्टिगोचर होती है, जिसमें राजा, सामन्त, भूस्वामी कहा जाने वाला व्यक्ति (ग्रामस्वामी या ग्राम की भूमि के एक भाग का स्वामी), एवं असामी, सभी अपने-अपने क्षेत्र में भूस्वामी माने जाते थे। सामान्य रूप से यह कहा जा सकता है कि इनके भूस्वामित्व अवरोहीक्रम में अनुक्रमनिष्ठ रहे होंगे। पर क्रियात्मक स्तर पर राजा, सामन्त या ग्रामस्वामी

में से कोई भी अपनी शक्ति एवं सामर्थ्य के अनुसार भूमि में अधिक अधिकार का दावा कर सकता था। हेमचन्द्र के द्व्याश्रय महाकाव्य पर अभयतिलक गणि की टीका से पता चलता है कि गुंजरात एवं आस-पास के क्षेत्रों में ग्रामपति या ग्रामेश अपने को ही भूमिस्वामी मानते थे और उनके अनुसार राजा केवल देशपति था। इन्हीं परिस्थितियों में विज्ञानेश्वर ने लौकिक स्वत्ववाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए शास्त्र के नियमों के अतिक्रम से अर्जित सम्पत्ति में भी स्वत्व होना स्वीकार किया है। उनके अनुसार, स्वत्व या सम्पत्ति का आधार लोक-मान्यता होती है, जो शास्त्र पर नहीं आधारित रहती है। इस सन्दर्भ में गौतम धर्मसूत्र पर हरदत्त की टीका में मिलने वाला विचार महत्त्वपूर्ण लगता है। इसके अनुसार सामान्य लोग डर के कारण राजपुरुषों एवं शक्तिशाली लोगों के विरुद्ध अपनी ही भूमि में अपने वैध अधिकार का दावा नहीं कर पाते थे, और वे उससे वंचित भी हो जाते थे। इसका साक्ष्य हमें राजस्थान के बाद के काल के इतिहास में भी मिलता है। ऐसी स्थिति में लौकिक स्वत्ववाद की प्रवृत्ति के कारण अन्ततोगत्वा कृषकों के भूमि-सम्बन्धी अधिकार विशेष रूप से प्रक्षीण हुए होंगे।

कृषि के लिये सिंचाई के महत्त्व का संचित ज्ञान पूर्व मध्यकाल में अधिक स्पष्ट एवं विस्तृत हुआ। भुवनदेव (12वीं शताब्दी) की अपराजितपृच्छा के अनुसार, राज्य के लिये शस्य आवश्यक है और शस्य के लिये जलाशय। प्राचीन काल से ही सिंचाई के प्राकृतिक साधनों-प्राकृतिक जलप्रवाह, प्राकृतिक सरोवर एवं झील, वर्षा आदि-का महत्त्व लोग समझने लगे थे, और उसके कृत्रिम साधनों—कूप, निर्माण कराये गये जलाशय, बाँध आदि- का भी प्रयोग करने लगे थे। पूर्व मध्यकाल में सिंचाई के कृत्रिम साधनों पर विशेष ध्यान दिया गया, और फलस्वरूप उनका

विकास एवं अधिक प्रसार दृष्टिगोचर होता है। अपराजितपृच्छा (पृ0 183) में स्पष्ट कहा गया है कि अनावृष्टि व स्वल्पवृष्टि के प्रकोप से बचने के लिये और कृषि-उत्पादन की वृद्धि के लिये सिंचाई के कृत्रिम साधनों का विस्तार एवं जल-संचय करना चाहिए।

पूर्व मध्यकाल के धर्मशास्त्रकार लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) ने एक नयी परम्परा का सूत्रपात करते हुए कुएँ खुदाने, तालाबों का निर्माण कराने, एवं पर्वतीय झरनों पर बाँध (वारिबन्ध) बनाने को धार्मिक पुण्य की प्राप्ति हेतु दान के अन्तर्गत बताया है। कुछ अभिलेखों में भी हमें अरहट्ट आदि सिंचाई के कृत्रिम साधनों के दान तथा उनसे होने वाले पुण्य के उल्लेख मिलते हैं। पर सिंचाई के कृत्रिम साधनों के विस्तार के लिये केवल धार्मिक भावना ही उत्तरदायी नहीं थी। क्षेमेन्द्र (11वीं शताब्दी) की अवदानकल्पलता के साक्ष्य से यह संकेत मिलता है कि राजा एवं सामन्त अपने-अपने राज्यों एवं जनपदों में कृषकों को न भागने देने के उद्देश्य से भी सिंचाई की व्यवस्था करते थे। इस प्रकार सामन्ती व्यवस्था में राजाओं, सामन्तों एवं राजनीतिक-शक्ति-सम्पन्न ग्रामस्वामियों की बढ़ती हुयी संख्या के साथ-साथ सिंचाई के कृत्रिम साधनों का भी विस्तार हुआ होगा।

अपराजितपृच्छा में 10 प्रकार के कूपों, 2 प्रकार की कूपिकाओं, 4 प्रकार की वापियों, 5 प्रकार के तड़ागों, एवं 4 प्रकार के कुण्डों को गिनाया गया है। अपराजितपृच्छा वास्तुशास्त्र का ग्रन्थ है। अतः इसकी योजनानुसार उपर्युक्त विभिन्न

प्रकार के सिंचाई के कृत्रिम साधनों का निर्माण किया गया होगा । इस ग्रन्थ में तथा सोमेश्वर (12वीं शताब्दी) के मानसोल्लास में विभिन्न प्रकार के जलाशयों— पुष्करिणी, तड़ाग आदि— में अन्तर करने का भी प्रयास किया गया, जो उनके निर्माण कराने पर अधिक ध्यान देने का सूचक है । तालाबों एवं जलाशयों को पंक से निर्मुक्त कराने तथा इस प्रकार उनकी कार्य-क्षमता एवं उपयोगिता के ह्रास को रोकने की परम्परा प्राचीन काल में भी रही होगी । पर पूर्व मध्यकाल में ही इसके महत्त्वपूर्ण आभिलेखिक एवं साहित्यिक साक्ष्य मिलते हैं ।

पूर्व मध्यकाल में नहरों द्वारा सिंचाई पर भी ध्यान दिया गया । वास्तुशास्त्र के ग्रन्थ अपराजितपृच्छा में "सारणी" शब्द नहर के लिये मिलता है । भट्टस्वामिन् की अर्थशास्त्र पर टीका में सारिणी और कुल्या समानार्थक बताये गये हैं । राजतरंगिणी में भी हम सुय्य नामक इंजीनियर द्वारा कश्मीर में नहरों के निर्माण और उसके फलस्वरूप उत्पादन-वृद्धि का उल्लेख पाते हैं । पर नहरों (कुल्या) के विभिन्न प्रकारों, निर्माण-विधि, तथा उपयोगिता के सम्बन्ध में सबसे अधिक जानकारी मध्यकाल के ग्रन्थ काश्यपीय-कृषिसूक्ति से मिलती है । इससे यह लगता है कि पूर्व मध्यकाल के बाद मध्यकाल में नहरों के निर्माण में काफी प्रगति हुई ।

पूर्व मध्यकाल में पानी ऊपर निकालने की कई विधियाँ थीं — कूप-तुला, चर्मकोश (मोट), टोकरियों से दो व्यक्तियों द्वारा उलचकर पानी निकालने की विधि, और अरघट्ट, या अरहट्ट (रहट) । अरहट्ट का प्रचार एवं प्रसार इस काल में सिंचाई की तकनीक के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण प्रगति का द्योतक है ।

अरहट्ट में पानी ऊपर निकालने की क्षमता सबसे अधिक होती थी । इससे सिंचाई की सुविधा बढ़ी होगी, और फलस्वरूप कृषि-उत्पादन में कुछ वृद्धि हुयी होगी । पर इसका उपयोग साधन-सम्पन्न लोग ही कर सकते थे । इस काल में अरहट्ट मानव-चालित था कि पशुशक्ति-चालित, इस सम्बन्ध में काफी विवाद है । पर प्रस्तुत शोध प्रबन्ध में दिये गये साक्ष्यों से यह स्पष्ट होता है कि दोनों ही पद्धतियाँ प्रचलित थीं । दो बैलों द्वारा चलाये जाने वाले अरहट्ट का साक्ष्य हमें पुष्पदन्त (10वीं शताब्दी-राष्ट्रकूटों के काल में) के <u>महापुराण</u> में मिलता है ।

इस काल के उत्तरी भारत के कुछ अभिलेखों तथा साहित्यिक स्रोतों में हम विभिन्न राजाओं, रानियों, राजकर्मचारियों, सामन्तों, सरदारों तथा अन्य विशिष्ट व्यक्तियों द्वारा सिंचाई के कृत्रिम साधनों के निर्माण के प्रमाण पाते हैं । इस प्रकार हमें कुओं, तड़ागों, सागरों, वापियों, पुष्करणियों आदि के निर्माण के साक्ष्य मिलते हैं । कूपों, वापियों आदि के खुदवाने की दृष्टि से भूमि के नीचे के जल की जानकारी आवश्यक होती थी । इस विषय पर सबसे पहले वराहमिहिर की <u>बृहत्संहिता</u> में ही एक अलग अध्याय मिलता है, जिसका शीर्षक "दकार्गल" है । बाद के काल में इस ज्ञान की वृद्धि होती गयी । धर्मशास्त्र ग्रन्थों में कृष्योपयोगी जलबन्धों एवं तड़ागों को क्षति पहुँचाने वालों के लिये दण्ड का भी विधान किया गया है।

यद्यपि पूर्व मध्यकाल में कुओं, जलाशयों, नहरों, अरहट्टों आदि सिंचाई के कृत्रिम साधनों का अपेक्षाकृत अधिक विकास एवं प्रसार हुआ, फिर भी, जैसा कि उस काल के स्रोतों से ज्ञात होता है, कृषि काफी हद तक सिंचाई के प्राकृतिक साधनों-विशेष रूप से वर्षा- पर आश्रित थी । ऐसी स्थिति में बादलों एवं

वर्षा से सम्बन्धित कृष्युपयोगी ज्योतिष-ज्ञान- जो संचित व्यावहारिक ज्ञान एवं अनुभव पर आधारित था- का वराहमिहिर के काल से लेकर आगे विकास दृष्टिगोचर होता है । इसकी जानकारी हमें बृहत्संहिता, कृषिपराशर, वल्लालसेन के अद्भुतसागर, गुरुसंहिता, काश्यपीयकृषिसूक्ति आदि से होती है । इसी प्रकार वर्षा के सूचक सामान्य लक्षणों का संचित ज्ञान भी विस्तृत एवं व्यवस्थित हुआ ।

कृषि के उपकरण एवं साधन तथा कृषि-क्रिया के क्षेत्रों में भी हम अपने अध्ययन के काल में महत्त्वपूर्ण साक्ष्य पाते हैं । कृषि के उपकरण लगभग वही थे जो प्राचीन काल में प्रचलित थे । पर इस काल के स्रोतों में हम उनका अधिक स्पष्ट उल्लेख पाते हैं, और उनके लिये प्रयुक्त किये जाने वाले शब्दों की संख्या में भी वृद्धि पाते हैं । इससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि उनके प्रकारों में भी कुछ वृद्धि हुयी होगी । इसके अतिरिक्त इससे कृषि के बढ़ते महत्त्व एवं विस्तार पर भी प्रकाश पड़ता है । पूर्व मध्यकाल के ग्रन्थ कृषिपराशर में ही हम सर्वप्रथम हल के विभिन्न अंगों का क्रमबद्ध वर्णन पाते हैं । इसी ग्रन्थ में हम सबसे पहले फाल के प्रकारों का उल्लेख पाते हैं — एक की लम्बाई 1 हस्त 5 अङ्गुल और दूसरे की 1 हस्त बतायी गयी है । इसमें फालिका (छोटे फाल) का भी उल्लेख मिलता है । बड़े फाल कृषि के अन्तर्गत लायी जाने वाली नई भूमि एवं कड़ी भूमि की जुताई के लिये उपयोगी रहे होंगे । इस काल के कुछ साहित्यिक एवं अभिलेखीय स्रोतों के सम्मिलित साक्ष्य से 3 प्रकार के हलों के प्रचलन का संकेत मिलता है —

(1) कुटदहल (बड़ा हल)

(2) हल (सामान्य हल)

(3) हलिका (छोटा एवं हलका हल)

कृषि-क्रिया में बैलों का प्राचीन काल से ही विशेष महत्त्व था । उनके समुचित पालन-पोषण, स्वास्थ्य-रक्षा, रोगों के उपचार, तथा लक्षण एवं चुनाव पर पूर्व मध्यकाल में विशेष ध्यान दिया गया । इसके साक्ष्य हमें विष्णुधर्मोत्तर पुराण, अग्निपुराण, कृषिपराशर आदि में मिलते हैं । विष्णुधर्मोत्तर के पहले के किसी ग्रन्थ में इस विषय का प्रतिपादन नहीं मिलता है । यह इस काल में कृषि के विकास एवं विस्तार में सहायक सिद्ध हुआ होगा ।

गोजातीय पशुओं की बीमारियों एवं उनके उपचार पर गौतम द्वारा गवायुर्वेद नामक एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना पूर्व मध्यकाल में ही हुयी । इसके उद्धरण सबसे पहले भोज (11वीं शताब्दी) के राजमार्तण्ड नामक ग्रन्थ में मिलते हैं । वराहमिहिर की बृहत्संहिता, कृषिपराशर, काश्यपीयकृषिसूक्ति आदि में कृषि-कार्य के लिये उपयुक्त और अनुपयुक्त बैलों के लक्षणों का भी वर्णन मिलता है । यह पारम्परिक, व्यावहारिक ज्ञान एवं अनुभव के उत्तरोत्तर विस्तार पर आधारित था ।

कृषिपराशर (950 से 1100 ईसवी के बीच)[1] में हल के आठ अंग गिनाये गये हैं — ईशा, युग, स्थाणु, निर्योल, निर्योल की पाशिकाएँ, अड्डचल्ल, शौल, एवं पच्चनी । पर हल के विभिन्न अंगों के विवरण में इनके अतिरिक्त फाल, योक्त्र, शौल, पच्चनी या पच्चनिका, एवं आबद्ध का भी उल्लेख मिलता है ।

हेमचन्द्र की देशीनाममाला में हल-शिखा को भी हल का एक अंग बताया गया है ।

अमरकोश, विश्वप्रकाश कोश, हेमचन्द्र के अभिधान चिन्तामणि एवं देशीनाममाला, कृषिपराशर आदि से कृषि के अन्य उपकरणों के सम्बन्ध में भी जानकारी होती है । ये उपकरण कोटिश, या लोष्टभेदन (एक प्रकार का हेंगा); खनित्र (फावड़ा); दात्र, या लवित्र (हँसिया); कुद्दाल ; तितउ (चलनी) ; मदिका, मयिका, या मइअ (सामान्य हेंगा) ; स्तम्बघ्न या स्तम्बघन (खुरपा) ; अयोऽग्र या मुसल (देशीनाममाला में इसके लिये अवहडं, चेलुंपं, पच्चवरं एवं पच्चेडं शब्द भी मिलते हैं) ; उदूखल या उलूखल, शूर्प, या प्रस्फोटन; मेधि ; कुलिय, आदि थे । याज्ञवल्क्य स्मृति, लक्ष्मीधर के व्यवहारकाण्ड, चण्डेश्वर के विवाद-रत्नाकर आदि धर्मशास्त्र ग्रन्थों से ज्ञात होता है कि कृषि के उपकरणों की समुचित सुरक्षा का दायित्व भृत्यों या हलवाहकों का होता था ।

कृषि की विधियों एवं कृषि-कार्य के सम्बन्ध में पूर्व मध्यकाल के स्रोतों से अपेक्षाकृत स्पष्ट जानकारी मिलती है, जो उनके अधिक व्यवस्थित होने एवं अधिक प्रसार की सूचक है । हर्षचरित में विन्ध्याटवी के आदिवासियों द्वारा कुदाल से गोड़कर खेती करने एवं हल से खेती करने, दोनों का उल्लेख मिलता है । पर सामान्यतः हल द्वारा ही खेती की जाती थी । कृषि-क्रिया की पूर्व-प्रचलित परम्पराएँ भी इस काल में व्यवस्थित होती हैं । इसके अन्तर्गत भू-कर्षण, खाद डालना, बीज-संग्रहण एवं बीज-स्थापन, बीज-वपन, सिंचाई, निराई, फसल एवं वृक्षों की रक्षा, लवन (कटाई), मणनी आदि थे ।

भूकर्षण ही कृषि का प्रारम्भिक कार्य था । इसके सन्दर्भ में भी इस काल में कुछ परम्पराएँ व्यवस्थित होती हैं । 11वीं शताब्दी में भोज ने अपने युक्तिकल्पतरु में यह स्पष्ट कहा है कि किसी भूमि पर प्रति वर्ष कर्षण करते रहने से उसकी उर्वराशक्ति क्षीण हो जाती है, और ऐसा हो जाने पर अन्यत्र कृषि करना चाहिए । इस स्थिति में खेत को कुछ समय के लिए परती छोड़ दिया जाता रहा होगा, या वह सदैव के लिये छोड़ दिया जाता रहा होगा । बृहत्पराशरीय नामक कृषि-ग्रन्थ, जिसका उद्धरण ईश्वरचन्द्र शास्त्री ने युक्तिकल्पतरु की पादटिप्पणी में दिया है, में मिलता है कि भूमि की उर्वराशक्ति की परिवृद्धि के लिए पर्युर्षुसित, गोमय, पङ्क, करीष-भस्म, आदि उसमें डालना चाहिए । काश्यपीय कृषिसूक्ति में भी जल की सुविधा वाली उर्वरा भूमि (सारक्षेत्र) में प्रतिवर्ष दो फसलें उत्पन्न करने की सलाह दी गयी है । इस प्रकार खेत को परती छोड़ने की बाध्यता से कुछ हद तक छुटकारा मिला होगा और इससे उत्पादन-वृद्धि में सहायता मिली होगी । बंगाल में प्रचलित खणा की कहावतों से ज्ञात होता है कि विभिन्न फसलों के लिये खेत तैयार करने हेतु विभिन्न संख्या की जोत की आवश्यकता का ज्ञान मध्यकाल, जिसके अन्तर्गत पूर्व मध्यकाल भी है, में विस्तृत हुआ ।

खाद के प्रयोग का अपेक्षाकृत विस्तृत विवरण वराहमिहिर की बृहत्संहिता में ही सबसे पहले मिलता है । इसमें भूमि को उपजाऊ बनाने हेतु सूखी एवं हरी, दोनों प्रकार की, खादों का उल्लेख मिलता है । वराहमिहिर के अनुसार खेत में तिल बो कर, उसके पौधों के पुष्पित हो जानेपर, फिर से खेत जोत दिया जाता था । इस प्रकार तिल के पौधे खेत में गिर कर सड़ जाते थे और खाद

कृषिपराशर में खाद के महत्त्व पर बड़ा बल दिया गया है । इससे स्पष्ट होता है कि इस काल में खाद के प्रयोग का काफी विस्तार हुआ होगा ।

सिंचाई की विधियों में भी पूर्व मध्यकाल में कुछ प्रगति हुई । सिंचाई के लिए अरहट्ट, या अरघट्ट का प्रयोग बढ़ने लगा, जिसकी पानी नीचे से ऊपर निकालने की क्षमता सबसे अधिक थी । अपराजितपृच्छा में सिंचाई के विशेष साधन के रूप में अरहट्ट के साथ-साथ सारणी (नहर) का भी उल्लेख मिलता है ।

पूर्व मध्यकाल में फसल की रक्षा के प्रति विशेष ध्यान देने के साक्ष्य मिलते हैं । लक्ष्मीधर (12वीं शताब्दी) ने अपने कृत्यकल्पतरु के व्यवहारकाण्ड (पृ0 461-467) में सस्य- रक्षा एवं सस्यघात -दण्ड के ऊपर, सीमा-विवाद शीर्षक के अन्तर्गत, दो अलग प्रकरण दिया है । इन प्रकरणों में गौतम, मनु, नारद, बृहस्पति, याज्ञवल्क्य, विष्णु, कात्यायन, शंख-लिखित, व्यास एवं उशना के मत उद्धृत किये गये हैं । हर्षचरित में मिलता है कि कभी -कभी फसल को क्षति पहुँचाने वाले जंगली पशुओं एवं पक्षियों को डराने के लिए जंगली भैंसों के हड्ड खेत में खड़े कर दिये जाते थे । वर्धमान की गणरत्नमहोदधि (12वीं शताब्दी), दीवसागर पन्नत्ति आदि ग्रन्थों में एक नया शब्द "चञ्चा" मिलता है, जो अमरकोश एवं प्राचीन ग्रन्थों में नहीं प्रयुक्त हुआ है । यह तृण से बनाया गया पुरुषाकार ढाँचा था, जिसे खेत में पशु-पक्षियों को डराने के लिए खड़ा कर दिया जाता था । इस प्रकार सस्य-रक्षा की इस विधि का प्रचलन पूर्व मध्यकाल में ही हुआ । इस प्रथा के अवशेष आज भी कहीं-कहीं मिलते हैं ।

कृषि-क्रिया के सन्दर्भ में ज्योतिष एवं धार्मिक अनुष्ठानों का बड़ा महत्त्व था । प्रत्येक महत्त्वपूर्ण कृषि-कर्म को ज्योतिष के अनुसार शुभ समय में प्रारम्भ करने का

प्रयास किया जाता था, और उसे प्रारम्भ करने के पहले उससे सम्बन्धित धार्मिक अनुष्ठान भी किया जाता था। इन सभी को कोरे धार्मिक अन्धविश्वास के अन्तर्गत नहीं रखा जा सकता, क्योंकि जहाँ तक किसी कृषि-कर्म के एक उपयुक्त समय पर करने की परम्परा थी वह अन्ततोगत्वा व्यावहारिक निरीक्षण एवं लम्बे-अनुभव-जन्य ज्ञान पर आधारित थी।

खलिहान की भूमि पर नये धान्य की राशि में से सेवक जातियों के लोगों, शिल्पियों, कर्मकरों आदि को दान देने की प्रथा के स्पष्ट प्रमाण हमें पूर्व मध्यकाल में ही मिलते हैं। इसे कालान्तर की जजमानी प्रथा का पूर्व रूप माना जा सकता है। इस काल के परिवेश में कृषि के विकास में इस प्रथा का भी योगदान रहा होगा।

पूर्व मध्यकाल में वृक्षसंवर्धन-सम्बन्धी ज्ञान के विस्तार के भी महत्त्वपूर्ण साक्ष्य मिलते हैं। वृक्षायुर्वेद का उल्लेख अर्थशास्त्र में भी मिलता है। पर बृहत्संहिता और अग्निपुराण में इस विषय पर अलग अध्याय मिलते हैं। शूरपाल ने दसवीं शताब्दी के आस-पास वृक्षायुर्वेद पर एक स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना की। 12वीं शताब्दी तक, जैसा कि अर्थशास्त्र पर भट्टस्वामिन् की टीका से ज्ञात होता है, वृक्षायुर्वेद पर अग्निवेश्य आदि के ग्रन्थ अस्तित्व में आ चुके थे। वराहमिहिर की बृहत्संहिता और उसके ऊपर भट्टोत्पल की टीका से वृक्षों के पौधों के संक्रमण-विरोपण (एक स्थान से ले जाकर दूसरे स्थान में लगाना) एवं उनकी कलम बाँधने की विधियों पर प्रकाश पड़ता है। पी0के0 गोडे ने ठीक कहा है कि कलम बाँधने

का उल्लेख वराहमिहिर के पहले के किसी प्राचीन भारतीय स्रोत में नहीं मिलता है ।

पूर्व मध्यकाल में कृषि के विस्तार; कृषि-योग्य भूमि और कृषि एवं सिंचाई के साधन-सम्बन्धी संचित ज्ञान के विकसित एवं व्यवस्थित होने; कुछ क्षेत्रों में सिंचाई के लिए अरहट्ट के प्रचलन ; राजाओं, सामन्तों, स्थानीय सरदारों एवं भूमिपतियों के प्रयास ; तथा कृषि-कार्य में आश्रित कृषकों (इनमें मुख्य रूप से आर्धिक रहे होंगे) एवं आश्रित कर्मकरों की विशेष भूमिका हो जाने के फलस्वरूप कृषि-उत्पादन में अभूतपूर्व वृद्धि हुयी । प्राचीन काल के चरक एवं सुश्रुत के वैद्यक ग्रन्थों में मिलने वाले धान्यों, शाकों, फलों आदि के नामों एवं प्रकारों की अपेक्षा पूर्व मध्यकाल के वैद्यक ग्रन्थों में उनके अधिक नामों एवं प्रकारों के उल्लेख मिलते हैं । उदाहरणार्थ, चरक संहिता एवं सुश्रुत संहिता में शालि के क्रमशः 19 एवं 17 नामों एवं प्रकारों के स्पष्ट उल्लेख मिलते हैं । पर वाग्भट द्वितीय के अष्टाङ्ग हृदय में इसके 30 नामों एवं प्रकारों को गिनाया गया है । यही स्थिति अमरकोश एवं पूर्व मध्यकाल के कोशग्रन्थों- उदाहरणार्थ हेमचन्द्र के अभिधान-चिन्तामणि एवं निघण्टुशेष-में मिलने वाले धान्यों, फलों आदि के नामों एवं प्रकारों के तुलनात्मक अध्ययन से स्पष्ट होती है । अभिलेखों में धान्यों, फलों आदि के नाम अधिक नहीं मिलते । पर पूर्व मध्यकाल के द्वितीय चरण (11वीं एवं 12वीं शताब्दियों) में ये अपेक्षाकृत अधिक संख्या में मिलते हैं । इससे यह प्रतीत होता है कि इस काल के द्वितीय चरण में कृषि-उत्पादन में विशेष प्रगति हुयी होगी ।

पूर्व मध्यकाल में सामन्तों, सरदारों एवं भूमिपतियों के विशिष्ट वर्ग के

उदय के कारण उनके उपभोग के लिये शालि आदि उत्तम कोटि के धान्यों, फलों, शाकों आदि की आवश्यकता बढ़ी होगी । ऐसी स्थिति में उत्तम कोटि के धान्यों आदि के उत्पादन में भी वृद्धि होना स्वाभाविक था । निम्न कोटि के धान्यों की फसलें सामान्य एवं निर्धन लोगों द्वारा अपनी आवश्यकता की पूर्ति के लिये उगाई जाती रही होंगी । इस काल में कोद्रव, चना एवं मेथिका की कृषि में विस्तार के महत्त्वपूर्ण साक्ष्य मिलते हैं ।

पर इस काल में कृषि-उत्पादन निर्बाध नहीं था। अनावृष्टि, अतिवृष्टि आदि प्राकृतिक आपदाओं के अतिरिक्त सैन्य-प्रचार, युद्धों आदि से भी कभी-कभी फसलों को विशेष क्षति पहुँचती थी । अनावृष्टि एवं अतिवृष्टि के फलस्वरूप अकाल पड़ जाता था और विपन्न लोग अपना स्थान छोड़कर अन्यत्र चले जाते थे । इससे भी कृषि-उत्पादन पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था ।

पूर्व मध्यकाल में कृषकों और कृषि-कर्मकरों से सम्बन्धित शब्दावली का विस्तार होता है । अमरकोश में कृषकों के लिये चार शब्द मिलते हैं — क्षेत्राजीव, कर्षक, कृषीवल एवं कीनाश । पर हेमचन्द्र (12वीं) के अभिधान चिन्तामणि और अनेकार्थ संग्रह में कुल मिलाकर इनके लिये आठ शब्द मिलते है ----- कुटुम्बी, कर्षक, क्षेत्री, हली, कृषिक, कार्षिक, कृषीवल एवं कीनाश । कथासरित्सागर और राजतरंगिणी में कार्षक शब्द भी मिलता है । कृषि-पराशर में कृषाण शब्द का भी प्रयोग किया गया है ।

उपर्युक्त शब्दों का सर्वत्र मिलने वाला कोई स्थिर अर्थ नहीं था । पर सामान्यतः कृषक, कृषाण एवं कृषीवल शब्द अपनी कृषि करने या कराने वालों

के लिये प्रयुक्त होते थे । हालिक, वाह, हलवाहक लाङ्गलोपजीवी आदि शब्द हल जोतने वाले कर्मकरों के लिये प्रयुक्त होते थे । वैजयन्ती तथा इस काल के अभिधानरत्नमाला आदि स्रोतों में इसी प्रकार का कर्मकर बताया गया है । कृषकों एवं कृषिकर्मकारों के लिये अधिक शब्दों का प्रचलन होना इस काल में कृषि के महत्त्व का सूचक लगता है ।[7]

पूर्व मध्यकाल में आर्धिकों—अधिया—बटाई पर कृषि करने वालों—के वर्ग का काफी विस्तार हुआ । इसका सबसे महत्त्वपूर्ण साक्ष्य यह है कि पराशरस्मृति (11.25) में आर्धिक की परिकल्पना एक मिश्रित जाति के रूप में की गयी है । प्राचीन काल में कुटुम्बी समृद्ध गृहस्थ होते थे, जो केवल कृषि से ही नहीं अपितु व्यापार एवं कुसीद से भी सम्बन्धित होते थे । पर इस काल में कुटुम्बी अधिकतर आर्धिक के रूप में समझे जाने लगे (मनु0, 4.253 पर मेधातिथि) । यह सामान्य स्वतंत्र कृषकों की स्थिति में गिरावट का सूचक लगता है ।

कृषकों में एकरूपता नहीं थी, और उनके कई अनुक्रमनिष्ठ स्तर थे । उनके वर्गीकरण का एक प्राचीन आधार उनके द्वारा प्रयुक्त किये जाने वाले हल के लक्षण एवं हलों की संख्या थी । हलों की संख्या मोटे तौर पर कृषि-श्रेणियों की सामाजिक स्थिति एवं प्रतिष्ठा से सम्बन्धित थी । दण्डी के दशकुमार चरित के एक साक्ष्य से क्रमशः सौ हलवाले (शतहलिः) और अगणित हल वाले (अनन्तसीरी) जनपद-महत्तर एवं ग्रामणी (ग्रामपति) का संकेत मिलता है । निम्न स्तर के दरिद्र कृषक, जिनके पास हल नहीं होता था, हल-साझा से काम चलाते रहे होंगे (काव्यमीमांसा) ।

कृषि में किये जाने वाले श्रम के आधार पर भी कृषकों के वर्गीकरण की परम्परा इस काल में स्पष्ट रूप से मिलती है (मनु 3.155 पर मेधातिथि) :-

(1) वे कृषिजीवी जो अपने व अपने परिवार के लोगों के श्रम से स्वयं कृषि करते थे ।

(2) वे लोग जो कर्मकरों आदि से कृषि कराते थे ।

इसके अतिरिक्त ऐसे लोग भी रहे होंगे जो कुछ कृषि-कार्य स्वयं और अपने परिवार के लोगों से कराते रहे होंगे और कुछ के लिये कर्मकरों को नियोजित करते रहे होंगे ।

धान्योत्पत्ति एवं धान्य-संग्रह के परिमाण के आधार पर कृषकों के 3 वर्गों का उल्लेख ब्रह्मपुराण (30.56) में मिलता है --

1-- वे कृषक जो अपनी कृषि से उत्पन्न अनाज को जमीन में गर्त (तहखाना) बनाकर रखते थे । ये बड़े कृषक रहे होंगे ।

2-- वे जो उसे खत्तियों में रखते थे । ये मध्यम कोटि के कृषक रहे होंगे ।

3-- वे जो अपनी कृषि से उत्पन्न धान्य घड़ों में ही रखते थे । ये लोग सामान्यतः दरिद्र कृषक एवं कर्मकर रहे होंगे ।

कृषकों के स्वतंत्र एवं अस्वतन्त्र का द्विविभाजन भी हरदत्त (12वीं शताब्दी) की आपस्तम्ब धर्मसूत्र पर टीका में मिलता है । सामन्ती व्यवस्था में इस विभाजन का विशेष महत्व रहा होगा, क्योंकि इस काल में आश्रित कृषकों की संख्या बढ़ने लगी थी । इसके अतिरिक्त कृषकों का विभाजन वर्ण या जाति के आधार पर था । पराशर-स्मृति एवं काश्यपीय-कृषि-सूक्ति में कृषि को सभी वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र) के लिये विहित बताया गया है । इस काल में भूमिदान एवं ग्रामदान

की प्रथा के अधिक प्रचलन के कारण ऐसे ब्राह्मण भूमिपतियों की संख्या [illegible] जो आश्रित कृषकों एवं कर्मकरों से कृषि कराते थे । पराशर स्मृति [illegible] ओर संकेत करता है, जिसमें पारम्परिक षट्कर्म के साथ कृषि को [illegible] मुख्य धर्म माना गया है । कुछ शूद्र भी इस काल में समृद्ध कृषक बन गये [illegible] पर अल्बेरूनी एवं काश्यपीयकृषिसूक्ति के साक्ष्यों से यह संकेत मिलता है कि अधिकांश शूद्र कृषि-कर्मकर ही रहे होंगे । इस काल में जन-जातियों के [illegible] कृषि से सम्बन्धित करने की प्रवृत्ति में विस्तार दृष्टिगोचर होता है । कृषि-कर्मकरों में से कुछ को कर्मानुरूप वेतन दिया जाता था, और कुछ पोषण या [illegible] पाते थे ।

कृषक अनुक्रम में कुछ उर्ध्वमुखी एवं अधोमुखी गतिशीलता के भी साक्ष्य मिलते हैं । जैसा कि कश्मीर के इतिहास से ज्ञात होता है, कुछ बड़े और समृद्ध कृषक अपनी शक्ति बढ़ाकर सामन्ती सरदारों के तुल्य हो जाते थे । कश्मीर में डामरों का उदय इसी प्रकार हुआ था । पर मध्य वर्ग एवं निम्न वर्ग के कृषकों की स्थिति में अधिकतर गिरावट आयी । इसका कारण सामन्ती व्यवस्था में मध्यस्थों का भूमि में स्वत्व का दावा और उनके द्वारा कृषकों का शोषण था । भूमि में उन कृषकों के स्वत्व प्रक्षीण हुये और वे बड़ी संख्या में आश्रित कृषक बन गये । कुछ अभिलेखों में हम कुटुम्बिकों के दान के भी उल्लेख पाते हैं, जो आश्रित कृषक रहे होंगे ।

इस काल में सामान्य कृषकों पर करों का बोझ बढ़ गया । मानसार से ज्ञात होता है कि सामन्ती अनुक्रम में राजा या सरदार [illegible]

का उत्तरोत्तर अधिक भाग ग्रहण करते थे, क्योंकि उन्हें अपने स्वामित्व [illegible] को कर देना पड़ता था । करों में वृद्धि के साथ-साथ हम करों के क्षेत्र में विस्तार, विविधता एवं कुछ परिवर्तन के साक्ष्य पाते हैं । अन्य करों के साथ-साथ चरागाह-कर, सुरक्षा-कर, स्थानीय अधिकारियों के निमित्त देय आदि नये देयों के भी उल्लेख पूर्व मध्यकाल के कुछ स्रोतों में मिलते हैं । करभार से कृषकों के उत्पीड़न, उनके शोषण तथा उनकी दरिद्रता के अनेक साक्ष्य इस काल के स्रोतों में मिलते हैं ।

विष्टि या बेगार (कृषि के लिये इसके प्रचलन के स्पष्ट प्रमाण कम मिलते हैं), श्रम-सेवा एवं ऋणग्रस्तता के कारण भी सामान्य कृषकों के शोषण एवं उत्पीड़न के प्रमाण पूर्व मध्यकाल के प्रथम चरण मे अधिक मिलते हैं । "एकभोग" ग्रामों में इस प्रकार की स्थिति की सम्भावना अधिक रहती थी । एकभोग ग्राम में ग्राम का भोग करने वाला व्यक्ति उसका प्रधान होता था, और वहाँ के अन्य निवासी उसके भृत्य एवं परिचारक के रूप में रहते थे । ऐसे ग्रामों में द्विज लोग बहुत कम संख्या में रहते थे । ऐसे ग्राम अविकसित या जनजातीय क्षेत्रों में अधिक रहे होंगे । पर 11वीं एवं 12वीं शताब्दियों में कृषि एवं व्यापार में विकास तथा सिक्कों के अपेक्षाकृत अधिक प्रचलन के कारण इनसे प्रभावित क्षेत्रों में लगभग बन्द आर्थिक व्यवस्था और कृषकों की इस प्रकार की प्रतिबद्धता की स्थिति कम होने लगी होगी ।

यद्यपि आर्थिक स्थिति एवं वर्ण-जाति के आधार पर कृषकों का कई स्तरों में विभाजन मिलता है, फिर भी मोटे तौर पर उनको एक वर्ग मानने की प्रवृत्ति

भी बृहत्संहिता एवं अपराजितपृच्छा में मिलती है । कर के बोझ, बेगार एवं उत्पीड़न (जैसे फसल काट लेना) आदि से पीड़ित होकर गाँव के लोगों, जिनमें कर्षक ही अधिक रहे होंगे, का असन्तोष कई रूपों में व्यक्त होता था । पर उसके विद्रोह के रूप धारण करने का केवल एक ही स्पष्ट उदाहरण बंगाल के नरेश रामपालके काल में मिलता है (रामचरित 2, 39-42) । वहाँ कैवर्तों ने उत्पीड़क करों एवं सेवा के उपलक्ष्य में प्राप्त अपने खेतों से वंचित होने के विरोध में यह सशस्त्र विद्रोह किया था । पर साक्ष्यों का भार यह इंगित करता है कि सामान्यतः कृषकों का विरोध सामूहिक रूप से ग्राम छोड़ कर अन्यत्र चले जाने के माध्यम से व्यक्त होता था । इसके प्रमाण हमें समन्तपासादिका, बृहन्नारदीय पुराण सुभाषितरत्नकोश आदि में मिलते हैं । अकाल के समय करभार के कारण अत्यधिक विपन्न होकर कृषक प्रायः गाँव छोड़ कर चले जाते थे ।

चयनित स्रोत-सूची

चयनित स्रोत-सूची

मूल स्रोत

(क) साहित्यिक एवं आभिलेखिक

अग्नि पुराण : बिब्लिओथिका इंडिका, जिल्द 1 एवं 2; अंग्रेजी अनुवाद (2 जिल्दों में) एम०एन०दत्त द्वारा।

अद्भुतसागर – बल्लालसेन देव कृत : सम्पादक मुरलीधर झा, प्रभाकरी यंत्रालय, बनारस, 1905.

अनेकार्थ संग्रह – हेमचन्द्रकृत : सं० पं० जगन्नाथ शास्त्री होशिङ्ग. एवं अन्य, चौखम्बा संस्कृत सिरीज, वाराणसी, 1969.

अमरकोश – आचार्य कृष्णमित्र की टीका सहित : सम्पादक सत्यदेव मिश्र, मलेशिया, 1972.

: (नामलिङ्गानुशासन (–क्षीरस्वामिन् की टीका सहित, सम्पादक के०जी० ओक, पूना, 1913.

अवदानकल्पलता – क्षेमेन्द्र कृत : सम्पादक पी०एल०वैद्य, जिल्दें 2, दरभंगा, 1954.

अष्टाङ्ग-संग्रह-संहिता - वृद्धवाग्भट-रचित : सम्पादक श्री दत्तात्रेय शास्त्री जलूकर एवं बिन्दुमाधव शास्त्री, आयुर्वेद-सेवा-संघ-ग्रन्थमाला (11), नासिक, 1964.

अष्टाङ्ग हृदय - वाग्भट-रचित (अरुणदत्त एवं हेमाद्रि की टीकाओं के सहित) : सम्पादक भिषगाचार्य हरिशास्त्री पराडकर, चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, 1982.

आपस्तम्ब धर्मसूत्र - हरदत्त की टीका सहित : वाराणसी, 1969.

इंस्क्रिप्शन्स ऑफ बंगाल : सम्पादक एन0जी0 मजूमदार, जिल्द 3, राजशाही, 1929.

उचितरत्नाकर - साधुसुन्दर गणी कृत : राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला (21), जयपुर, 1957.

उक्तिव्यक्तिप्रकरण - दामोदर पण्डित कृत : सम्पादक आचार्य जिनविजय मुनि, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1953.

उदयसुन्दरी कथा - सोड्ढलकृत : गायकवाड ओरियंटल सिरीज, नं0 11, 1920.

उपमितिभवप्रपंचा कथा - सिद्धर्षिकृत : सम्पादक पी0 पिटर्सन, कलकत्ता, 1899.

कथासरित्सागर - सोमदेव कृत : निर्णय सागर प्रेस (बम्बई) संस्करण, शक सं0 1811 ; टॉनी द्वारा अनूदित (दि ओशन ऑफ स्टोरीज 10 जिल्दें, लन्दन 1924-28).

अष्टांग-संग्रह-संहिता – वृद्धवाग्भट-रचित : सम्पादक श्री दत्तात्रेय शास्त्री जलूकर एवं बिन्दुमाधव शास्त्री, आयुर्वेद-सेवा-संघ-ग्रन्थमाला (11), नासिक, 1964.

अष्टांग हृदय – वाग्भट-रचित (अरुणदत्त एवं हेमाद्रि की टीकाओं के सहित) : सम्पादक भिषगाचार्य हरिशास्त्री पराडकर, चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, 1982.

आपस्तम्ब धर्मसूत्र – हरदत्त की टीका सहित : वाराणसी, 1969.

इन्स्क्रिप्शन्स आफ बंगाल : सम्पादक एन0जी0 मजूमदार, जिल्द 3 राजशाही, 1929.

उक्तिरत्नाकर – साधुसुन्दर गणी कृत : राजस्थान पुरातन ग्रन्थमाला (21), जयपुर, 1957.

उक्तिव्यक्तिप्रकरण– दामोदर पण्डित कृत : सम्पादक आचार्य जिनविजय मुनि, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 1953.

उदयसुन्दरी कथा– सोड्ढलकृत : गायकवाड ओरियंटल सिरीज, नं0 11, 1920.

उपमितिभवप्रपंचा कथा– सिद्धर्षिकृत : सम्पादक पी0 पिटर्सन, कलकत्ता, 1899.

कथासरित्सागर – सोमदेव कृत : निर्णय सागर प्रेस (बम्बई) संस्करण, शक सं0 1811 ; टॉनी द्वारा अनूदित (दि ओशन आफ स्टोरीज 10 जिल्दें, लन्दन 1924–28).

चरकसंहिता – चक्रपाणिदत्त की टीका सहित : भाग 1, सम्पादक डॉ० गंगा सहाय पाण्डेय, काशी संस्कृत सिरीज (194), चौखम्बा संस्कृत सिरीज आफिस, वाराणसी, 1969.

दशकुमारचरित (दण्डीकृत) : सम्पादक एम०आर० काले, चतुर्थ संस्करण, मोती लाल बनारसीदास, दिल्ली, 1966.

दि जातक : जिल्द 1, सम्पादक वी० फाउसबॉल; सम्पादक ई०बी० कावेल एवं अनुवादक चामर्स

देवीपुराण : सम्पादक पी०के०शर्मा, नई दिल्ली, 1976.

देशीनाममाला (हेमचन्द्रकृत) : सम्पादक आर०पिशेल, द्वितीय संस्करण, विजयानगरम्, 1938.

द्व्याश्रय महाकाव्य (हेमचन्द्र कृत) : 2 जिल्दें, बाम्बे संस्कृत सिरीज, 1915 एवं 1921.

धर्मशास्त्रसङ्ग्रह : सम्पादक श्री जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1876.

धर्मामृत (सागार) : सम्पादक, कैलाशचन्द्र शास्त्री, भारतीय ज्ञानपीठ, 1978.

नरपतिजयचर्यास्वरोदय : प्रभाकरी यन्त्रालय, काशी, सं० 1962.

नारद स्मृति : जे० जॉली द्वारा सम्पादित (कलकत्ता, 1885) एवं अनूदित (आक्सफोर्ड, 1889).

[illegible] : श्री वल्लभगणि (विक्रम सं० की 17वीं

मुनिराज श्री पुण्यविजय जी एवं लाल भाई
दलपत भाई , संस्कृत विद्यामंदिर,
अहमदाबाद, 1968.

नीतिवाक्यामृत : सम्पादक एवं अनुवादक सुन्दरलाल शास्त्री,
(सोमदेवकृत) वाराणसी, 1976.

पद्मावत : व्याख्याकार वासुदेवशरण अग्रवाल,
(जायसीकृत) साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी,
विक्रम सं० 2042.

पराशर-धर्म-संहिता (माधवाचार्य की टीका सहित) : बाम्बे संस्कृत एण्ड प्राकृत सिरीज ।

पराशरस्मृति (माधवाचार्य की टीका सहित) : एसियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल, कलकत्ता.

पाइअ-लच्छीनाममाला (धनपाल कृत) : सम्पादक बेचरदास जीवराज दोशी, अहमदाबाद, 1960.

पृथ्वीराज विजय : सम्पादक गौरीशंकर हीराचन्द्र ओझा एवं
(जयानक कृत) सी० गुलेरी , वैदिक यन्त्रालय, अजमेर,
1941.

प्रबन्धचिन्तामणि (मेरुतुङ्ग कृत) : अनुवादक टॉनी, कलकत्ता , 1901.

बाबरनामा : जिल्द 2, अनुवादक ए०एस० बीवरिज,
लन्दन, 1921.

बृहज्जातक (वराहमिहिर कृत) : भट्टोत्पल (10वीं शताब्दी) की टीका
सहित, सम्पादक एस० झा, बनारस, 1934.

बृहत्संहिता : वराहमिहिर विरचित, भट्टोत्पल विवृतिसहित, 2 भाग, सम्पादक अवधविहारी त्रिपाठी, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला §97§, वाराणसी, 1968. अंग्रेजी अनुवाद एच०कर्न द्वारा जर्नल ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ ग्रेट ब्रिटेन ऐण्ड आयरलैंड §1870, 1871, 1873 एवं 1875§ ।

बृहस्पतिस्मृति : गायकवाड ओरियंटल सिरीज, 1941.

ब्रह्मपुराण : सम्पादक तारणीश झा, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1976.

भागवत पुराण : गीता प्रेस §गोरखपुर§ संस्करण, 1961 ; एस०सुब्बाराव द्वारा अनूदित, 2 जिल्दें, तिरुपति, 1928.

मङ्खकोश : सम्पादक टी० जचारिए, वाराणसी, 1972.

मनुस्मृति : मेधातिथिरचित मनुभाष्य समेत, सम्पादक गंगानाथ झा, जिल्द 1, बिब्लिओथिका इंडिका §256§, कलकत्ता, 1932.

महापुराण -पुष्पदन्त विरचित : सम्पादक डॉ० पी०एल०वैद्य एवं अनुवादक डॉ० देवेन्द्रकुमार जैन, ज्ञानपीठ मूर्तिदेवी जैन ग्रन्थमाला, अपभ्रंश ग्रन्थांक 15, 16 §भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन§, भाग 1 एवं 2, 1979.

मानसार : सम्पादक पी०के० आचार्य, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, 1933.

मानव-धर्म-शास्त्रम् : गनपत कृष्णजी प्रेस, बम्बई, 1888.

मानसोल्लास - सोमेश्वरकृत : 2 जिल्दें, गायकवाड ओरियंटल सिरीज, बड़ौदा, 1926, 1939.

यशस्तिलकचम्पू : पूर्वखण्ड, सम्पादक एवं अनुवादक सुन्दरलाल शास्त्री, वाराणसी, 1960.

याज्ञवल्क्य स्मृति : सम्पादक टी० गणपति शास्त्री, त्रिवेन्द्रम्, 1922-24
हिन्दी व्याख्याकार उमेश चन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा प्रकाशन (178), वाराणसी, 1967.

युक्तिकल्पतरु-भोज रचित : सम्पादक ईश्वरचन्द्र शास्त्री, कलकत्ता, 1917.

राजतरङ्गिणी-कल्हणकृत : सम्पादक एम०ए०स्ताइन, बम्बई, 1892;
अनुवादक वही, वेस्टमिनिस्टर, 1900.

राजनीति-रत्नाकर - चण्डेश्वर मिश्र कृत : सम्पादक के०पी० जायसवाल, पटना, 1924.

राजमार्तण्ड-भोजराजकृत : सम्पादक रुद्रशंकर मिश्र, विद्याभवन आयुर्वेद ग्रन्थमाला (49), चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, 1966.

रामचरित - सन्ध्याकर नन्दीकृत : सम्पादक हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता, 1910.

लीलावती– भास्कराचार्य कृत : सम्पादक पं० राधावल्लभ, कलकत्ता, शक सं० 18[illegible]

लेखपद्धति : सम्पादक सी०डी० दलाल, गायकवाड ओरियंटल सिरीज, बड़ौदा, 1925.

लौकिकन्यायांजलिः : सम्पादक पी०ए०जैकब, दिल्ली, 1983.

वर्णरत्नाकर–ज्योतिरीश्वर कविशेखराचार्यकृत : सम्पादक आनन्द मिश्र एवं गोविन्द झा, मैथिली अकादमी, पटना, 1980.

विश्वप्रकाश कोश : सम्पादक श्री शीलस्कन्ध स्थविर एवं रत्नगोपाल भट चौखम्बा संस्कृत ग्रन्थमाला (37), वाराणसी, 1983

विष्णुधर्मोत्तर पुराण : क्षेमराज श्रीकृष्ण द्वारा प्रकाशित, वेंकटेश्वर प्रेस, बंबई

वैजयन्ती– यादवप्रकाशकृत : सम्पादक गुस्ताव आपर्ट, मद्रास, 1892.

शाकटायन व्याकरण : सम्पादक शम्भुनाथ त्रिपाठी, भारतीय ज्ञानपीठ प्रकाशन, वाराणसी, 1944.

शार्ङ्गधर-पद्धति : सम्पादक पीटर पिटर्सन, बाम्बे संस्कृत सिरीज (38), बम्बई, 1988 (पुनर्मुद्रित) ।

शिशुपालवध –माघ कृत : सम्पादक दुर्गाप्रसाद एवं शिवदत्त, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1914.

समन्तपासादिका (बुद्धघोस की टीका) : द्वितीय भाग, नवनालन्दा महाविहार पब्लिकेशन, पटना, 1965.

सारावली {कल्याणवर्मकृत} : सम्पादक एम0 चतुर्वेदी, वाराणसी, 1977.

सुभाषितरत्नकोष {विद्याकरकृत} : सम्पादक डी0डी0 कोसम्बी एवं वी0वी0 गोखले, ह रवर्ड, 1957.

सेलेक्ट इन्स्क्रिप्शन्स बियरिंग ऑन इंडियन हिस्ट्री ऐण्ड सिविलिजेशन : सम्पादक डी0सी0 सरकार, जिल्द 1 {कलकत्ता, 1965} एवं जिल्द 2, (दिल्ली, 1983) ।

स्मृतिशास्त्र-संग्रह : सम्पादक जीवानन्द विद्यासागर भट्टाचार्य, कलकत्ता, 1876.

स्मृति-सन्दर्भ : नाग प्रकाशन, दिल्ली, 1988.

हर्षचरित {बाणकृत} : सम्पादक पी0वी0 काणे, पुनर्मुद्रित, दिल्ली, 1973; श्री शंकर विरचित "संकेत" व्याख्या सहित, सम्पादक जगन्नाथ पाठक, चौखम्बा, विद्याभवन, वाराणसी, 1964.

हलायुधकोश {अभिधानरत्नमाला} : द्वितीय संस्करण, सम्पादक जयशङ्कर जोशी, हिन्दी समिति, लखनऊ, 1967.

हारीत संहिता {6वीं-7वीं शताब्दी ईसवी} : सम्पादक रामावलम्ब शास्त्री, प्राच्य प्रकाशन, वाराणसी, 1985.

हिन्दी काव्य-धारा : सम्पादक राहुल सांकृत्यायन, किताब महल, इलाहाबाद, 1945.

हिस्ट्री ऑफ इंडिया ऐज टोल्ड बाई इट्स ओन हिस्टोरियन्स : इलियट, एच०एम०एवं डाउसन, जे० : जिल्दें 1 – 3, इलाहाबाद, 1984.

(ग) विदेशी विवरण

ताकाकुसु जे०ए० : ए रेकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट रिलिजन एज प्रैक्टिस्ड इन इंडिया ऐण्ड दि मलय आर्किपिलागो बाई इत्सिंग, आक्सफोर्ड, 1896.

लेगे, जे०एच० : ए रेकार्ड ऑफ दि बुद्धिस्ट किंग्डम्स, बीइंग ऐन एकाउंट ऑफ दि चाइनीज मंक फाहियान्स ट्रैवेल्स, आक्सफोर्ड, 1896.

वाटर्स, टी० : आन युआन च्वांग्स ट्रैवेल्स इन इंडिया, 2 जिल्दें, लन्दन, 1904–5.

सखाऊ, ई०सी० (अनुवादक) : अल्बेरूनीज् इंडिया, 2 जिल्दें, लन्दन, 1888.

गौण स्रोत — आधुनिक शोध-ग्रन्थ

अग्रवाल, वासुदेव शरण : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, वाराणसी, 1955.

हर्षचरित: एक सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1953.

अच्छेलाल : प्राचीन भारत में कृषि, सिद्धार्थ प्रकाशन, वाराणसी, 1980.

ओम प्रकाश : अर्ली इंडियन लैंड ग्रान्ट्स ऐण्ड स्टेट इकॉनॉमी, एक्सिलेंस पब्लिशर्स, इलाहाबाद, 1988.

ओहरी, वी०सी० (सम्पादक) : हिस्ट्री एण्ड कल्चर ऑफ दि चम्बा स्टेट, बुक्स एण्ड बुक्स, नई दिल्ली, 1989.

काणे, पी०वी० : हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, जिल्दें 2-5, पूना, 1941-1977.

कोसम्बी, डी०डी० : ऐन इंट्रोडक्शन टु दि स्टडी ऑफ इंडियन हिस्ट्री, बंबई, 1956.

दि कल्चर ऐण्ड सिविलिजेशन ऑफ ऐंशेंट इंडिया, लन्दन, 1965.

गङ्गोपाध्याय, राधारमन : सम मटीरिअल्स फार दि स्टडी ऑफ ऐग्रिकल्चर ऐण्ड ऐग्रिकल्चरिस्ट्स इन ऐंशेंट इंडिया, सिरामपोर, 1932.

घोषाल, यू०एन० : कॉन्ट्रिब्यूशन्स टु दि हिस्ट्री आफ दि हिन्दू रैवेन्यू सिस्टम (कलकत्ता, 1929);
दि अग्रेरियन सिस्टम इन ऐंशेंट इंडिया (कलकत्ता, 1930)।

जैन, के०सी० : मालवा थ्रू दि एजेस, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, 1972.

जोशी, एन०पी० : आइकनोग्राफी आफ बलराम, अभिनव पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1979.

झा, डी०एन० (सम्पादक) : फ्यूडल सोशल फार्मेशन इन अर्ली इंडिया, चाणक्य पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1987.

झा, विवेकानन्द, : "स्टेजेस इन दि हिस्ट्री आफ अनटचेबुल्स," आई०एच०आर०, 2, नं० 1 (1975).

टाड, जेम्स : एनल्स ऐण्ड ऐन्टिक्विटीस आफ राजस्थान (क्रुक द्वारा सम्पादित), आक्सफोर्ड, 1920.

दासगुप्ता, टी०सी० : ऐस्पेक्ट्स आफ बंगाली सोसाइटी, कलकत्ता, 1935.

दुबे, लालमणि : अपराजितपृच्छा-ऐ क्रिटिकल स्टडी, लक्ष्मी पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1987.

नकवी, हमीदा खातून : ऐग्रिकल्चरल, इंडस्ट्रियल ऐण्ड अरबन डाइनैमिज्म अंडर दि सुल्तान्स ऑफ डेलही- 1206-1555, मुन्शी राममनोहरलाल, दिल्ली, 1986.

नियोगी, पुष्पा : कॉन्ट्रिब्यूशन्स टु दि ईकोनॉमिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया- फ्राम दि टेन्थ टु दि ट्वेल्फ्थ सेंचुरी ए०डी०, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, कलकत्ता, 1962.

पाठक, सर्वदानन्द : विष्णुपुराण का भारत, वाराणसी, 1967.

पाण्डे, गोविन्दचन्द्र : फाउण्डेशन्स ऑफ इंडियन कल्चर, जिल्द 2, नई दिल्ली 1984.

पाण्डेय, अयोध्या प्रसाद : चन्देलकालीन बुन्देलखण्ड का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, 1968.

पोस्टन, एम०एम० (सं०) : दि कैम्ब्रिज ईकोनॉमिक हिस्ट्री आफ योरप (द्वितीय संस्करण), कैम्ब्रिज यूनीवर्सिटी, प्रेस, 1971.

फोगेल, जे०पी०एच० : ऐंटिक्विटीस ऑफ चम्बा, स्टेट, कलकत्ता, 1911.

बाशम, ए०एल० : दि वंडर दैट वाज इंडिया, तृतीय संशोधित संस्करण, लन्दन, 1967.

बुच, एम०ए० : इकोनॉमिक लाइफ इन ऐंशेंट इंडिया, बड़ौदा, 1924.

बोस, एन०एस० : हिस्ट्री ऑफ दि चन्देलस, कलकत्ता, 1956.

बोस, डी०एम०, सेन, एस०एन० एवं सुब्बारायप्पा (सम्पादक) : ए कन्साइज हिस्ट्री ऑफ साइंस इन इंडिया, दि इंडियन साइंस अकैडमी, नई दिल्ली, 197

ब्लाश, मार्क : फ्यूडल सोसाइटी, (एल०ए० मैन्योन् द्वारा 2 जिल्दों में अंग्रेजी में अनूदित), लन्दन, 1965.

भट्टाचार्य, शिवेशचन्द्र : सम ऐस्पेक्ट्स आफ इंडियन सोसाइटी फ्राम सका सेकेंड सेन्चुरी बी०सी०टु सका फोर्थ सेंचुरी ए०डी०, कलकत्ता, 1978.

भाटिया, प्रतिपाल : दि परमारस, मुंशी राम मनोहरलाल, नई दिल्ली, 1970.

मजुमदार, ए०के० : दि चौलुक्यस् ऑफ गुजरात, बम्बई, 1956.

मजुमदार, गिरिजा प्रसन्न : वनस्पति, कलकत्ता, 1927.

मजूमदार, बी०पी० : सोशियो-इकोनॉमिक हिस्ट्री आफ नार्दर्न इंडिया §1030-1194 ए०डी०§, कलकत्ता, 1

मजूमदार, रमेशचन्द्र : दि हिस्ट्री ऑफ बंगाल, जिल्द 1, ढाका, 19

मित्रा, एस०के० : अर्ली रूलर्स ऑफ खजुराहो, कलकत्ता, 1958.

यादव, गंगाप्रसाद : धनपाल ऐण्ड हिज टाइम्स, कान्सेप्ट पब्लिशिंग कम्पनी, नई दिल्ली, 1982.

यादव, बी०एन०एस० : सोसाइटी एण्ड कल्चर इन नार्दर्न इंडिया इन दि ट्वेल्फ्थ सेंचुरी, सेंट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद 1973.

प्रेसीडेंशल ऐड्रेस §ऐंशेंट इंडिया सेक्शन§- इंडियन हिस्ट्री काँग्रेस §51वाँ सेशन§ ।

रन्धावा, एम०एस० : ए हिस्ट्री आफ ऐग्रिकल्चर इन इंडिया, जिल्द 1, इंडियन काउंसिल आफ ऐग्रिकल्चरल रिसर्च, नई दिल्ली, 1980.

[illegible], डी० §मुख्य सम्पादक§ : ऐग्रिकल्चर इन ऐंशेंट इंडिया, इंडियन काउंसिल ऑफ ऐग्रिकल्चरल रिसर्च, नई दिल्ली, 1964.

शर्मा, आर०एस० : इंडियन फ्यूडलिज्म, प्रथम संस्करण, 1965; द्वितीय संस्करण (मैकमिलन कम्पनी ऑफ इंडिया), दिल्ली, 1980.

ऐस्पेक्ट्स ऑफ पोलिटिकल आइडियास ऐण्ड इन्स्टीट्यूशन्स इन ऐंशेंट इंडिया, द्वितीय संस्करण, दिल्ली, 1968.

शूद्रास इन ऐंशेंट इंडिया, द्वितीय संस्करण, दिल्ली।

—(सम्पादक) : सर्वे ऑफ रिसर्च इन ईकोनॉमिक ऐण्ड सोशल हिस्ट्री ऑफ इंडिया, अजन्ता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1986.

शर्मा, दशरथ : अर्ली चौहान डिनैस्टीस, दिल्ली, 1959.

शर्मा, बृजेन्द्र नाथ : सोशल ऐण्ड कल्चरल हिस्ट्री ऑफ नार्दर्न इंडिया, अभिनव पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, 1972.

शास्त्री, अजयमित्र : इंडिया ऐज सीन इन दि बृहत्संहिता ऑफ वराहमिहिर, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1969.

शास्त्री, के०ए०नीलकान्त : दि चोलस्, मद्रास विश्वविद्यालय, मद्रास, 1975.

श्रीनिवासन, सरथ : मेजरमेंट्स इन ऐंशेंट इंडिया, अजन्ता पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1979.

सरकार, डी०सी० : एपिग्राफिक ग्लॉसरी (मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1966); लैंडलार्डिज्म एण्ड टिनैन्सी इन ऐंशेंट ऐण्ड अर्ली मेडीवल इंडिया ऐज रिवील्ड बाई एपिग्राफिकल रेकार्ड्स (लखनऊ, 1969); इंडियन एपिग्राफी (मोतीलाल बनारसीदास, 1965) ।

सरिता कुमारी : रोल ऑफ स्टेट इन ऐंशेंट इंडियन इकॉनॅमी, दिल्ली, 1986.

सेन, बी०सी० : सम हिस्टारिकल ऐस्पेक्ट्स ऑफ दि इंस्क्रिप्शन्स ऑफ बंगाल, कलकत्ता, 1942.

हबीब, इरफान : अग्रेरियन सिस्टम ऑफ दि मुगल इंडिया, बम्बई, 1963.

रायचौधरी, टी०के० एवं अन्य (सम्पादक) : लेजिन्ड्स इन हिस्ट्री, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, 1983 (पुनर्मुद्रित) ।

शोध पत्रिकाएँ, प्रोसीडिंग्स एवं रिपोर्ट्स

जर्नल ऑफ ओरिएन्टल स्टडीज

आर्कियोलॉजिकल सर्वे ऑफ इंडिया रिपोर्ट्स

इंडियन एंटिक्वेरी

इंडियन कल्चर

इंडियन जर्नल ऑफ हिस्ट्री ऑफ साइंसेज

एनाल्स ऑफ दि भण्डारकर ओरियंटल रिसर्च इंस्टीट्यूट

एपिग्राफिया इंडिका

ऐक्टा ओरियंटालिया (बुडापेस्ट)

जर्नल ऑफ ऐंशेंट इंडियन हिस्ट्री, कलकत्ता यूनिवर्सिटी

जर्नल ऑफ दि अमेरिकन ओरियंटल सोसाइटी

प्रोसीडिंग्स ऑफ दि इंडियन हिस्ट्री कांग्रेस

जर्नल ऑफ दि एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल

जर्नल आफ दि न्यूमिस्मैटिक सोसाइटी आफ इंडिया

जर्नल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी

जर्नल ऑफ दि बिहार ऐण्ड ओरिसा रिसर्च सोसाइटी

जर्नल ऑफ दि यू०पी० हिस्टारिकल सोसाइटी

जर्नल आफ दि रायल एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल

दि जर्नल ऑफ पेजेन्ट स्टडीस

दि इंडियन हिस्टारिकल रिव्यू

बुलेटिन ऑफ दि स्कूल ऑफ ओरियंटल ऐण्ड अफ्रीकन स्टडीज (लन्दन युनिवर्सिटी)

युनिवर्सिटी ऑफ इलाहाबाद स्टडीज